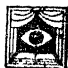
हबीब तनवीर

एक रंग-व्यक्तित्व

सम्पादन
प्रतिभा अग्रवाल



नाट्य शोध संस्थान
कलकत्ता

आवरण/ग्रन्थसज्जा
खालेद चौधरी

मुखपृष्ठ छायाचित्र
अविनाश पसरीचा

प्रकाशक
नाट्य शोध संस्थान
4, ली रोड, कलकत्ता-700 020

मुद्रक
भारत पेपर एण्ड बोर्ड कम्पनी
106बी, आमर्हस्ट स्ट्रीट, कलकत्ता-700 009

मूल्य
एक सौ बीस रुपए

फोर्ड फाउन्डेशन के अनुदान से प्रकाशित

HABIB TANVIR
EK RANG-VYAKTITVA

EDITOR Pratibha Agrawal

आभार

'हबीब तनवीर एक रंग-व्यक्तित्व' नाट्य शोध सस्थान की प्रकाशन योजना के अतर्गत प्रकाशित होनेवाली दूसरी पुस्तक है। पहली पुस्तक थी 'मास्टर फिदा हुसैन ' पारसी थियेटर मे पचास वर्ष' (1988)। प्रस्तुत पुस्तक का मूल आधार सस्थान के लिए हबीब तनवीर के साथ किया गया साक्षात्कार (1984), अन्य साक्षात्कार, पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित होनेवाली समीक्षाए एव स्वय हबीब तनवीर के लेख है। पुस्तक के प्रथम खड 'व्यक्ति, व्यक्तित्व और कृतित्व' मे व्यक्ति हबीब के व्यक्तित्व और कृतित्व का सिलसिलेवार ब्योरा एव मूल्याकन है। परिशिष्ट के अतर्गत दूसरे और तीसरे भाग मे उनके साथ की गयी बातचीत एव स्वय उनकी रचनाए है जिनमे लेख, गीत एव गजल शामिल है। अतिम भाग मे उनकी जीवन-विवरणिका प्रस्तुत है।

'हबीब तनवीर : एक रंग-व्यक्तित्व' मूलत हिंदी मे लिखी गयी है पर इसका एक बडा हिस्सा अग्रेजी मे भी है जिसमे हबीब तनवीर द्वारा लिखित लेख एव उनके साथ इनैक्ट के सम्पादक रजिन्दर पाल द्वारा की गयी लबी बातचीत शामिल है। जीवन-विवरणिका भी अग्रेजी मे है। ऐसा करने के पीछे दो उद्देश्य थे। पहला यह कि पुस्तक अहिंदी भाषा-भाषी लोगो के लिए भी उपादेय हो सके और दूसरा हबीब तनवीर की चुस्त अग्रेजी का आस्वादन भी पाठक कर सके।

आभारी हू शमीक बैनर्जी की जिनके साथ पुस्तक का स्वरूप निर्धारित किया एव हबीब तनवीर के साथ लबी मुलाकाते करके तथ्यो को दुबारा पुष्ट किया, उनमे आवश्यकतानुसार सशोधन-परिवर्द्धन किये। अग्रेजी अश का सयोजन उनका किया हुआ है, जीवन-विवरणिका भी उन्होने प्रस्तुत की है। आभारी हू मनमोहन ठाकौर, मदन सूदन एव ताबिश अजीमाबादी की जिन्होने हबीब तनवीर की उर्दू की रचनाओ के लिप्यतरण मे सहायता की। साथ ही आभारी हू कवि नवल की जिन्होने विभिन्न रूपो मे सहयोग दिया। पुस्तक की साजसज्जा एव मुखपृष्ठ सुप्रसिद्ध ग्रथ-सज्जाकार खालेद चौधरी द्वारा परिकल्पित है, उनके प्रति श्रद्धानत हूँ।

पुस्तक मे जितना कुछ मेरा है उससे अधिक दूसरो का है। एक बडा हिस्सा स्वय हबीब तनवीर की रचनाओ का है। इसका छोटा अश नटरग और अधिकाश इनैक्ट से उद्धृत है। खेद है कि इनैक्ट के तत्कालीन सम्पादक रजिन्दर पाल आज हमारे बीच नही। उनके चलते भारतीय रगमच से सम्बन्धित प्रचुर तथ्य एव सामग्री सामने आयी। इनैक्ट मे प्रकाशित सामग्री के पुनर्मुद्रण की अनुमति देने के लिए सुनीता पाल की कृतज्ञ हूँ। पुस्तक मे सुरेश अवस्थी, जितेन्द्र कौशल, विभु कुमार एव नन्ही कपूर के पूरे के पूरे आलेख उद्धृत है। आभारी हूँ इन सब की और उन सब समीक्षको की भी जिनकी समीक्षाओ के अश उद्धृत किये गये है।

साथ ही धन्यवाद के पात्र है अविनाश पसरीचा (दिल्ली), निमाई घोष एव निर्मलेन्दु चैटर्जी (कलकत्ता), गुरिन्दर ओगन तथा सगीत नाटक अकादमी जिनके द्वारा लिये गये छायाचित्रो का उपयोग पुस्तक मे किया गया है। आशिक आर्थिक सहयोग के लिए सर्वश्री काया ट्रस्ट की आभारी हू।

पुस्तक की रचना एव साजसज्जा के सहभागियो एव सहयोगियो की इस लबी सूची को पढकर यह प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है कि यह एक सम्मिलित प्रयास है। मै इससे सहमत हू। इस पुस्तक मे मेरा बहुत कुछ है पर, सब कुछ नही। वस्तुत. हबीब तनवीर की सार्थक रगयात्रा के प्रति यह भारतीय रगजगत की श्रद्धाजलि है, इसके हम सब सहभागी है। मै तो निमित्त मात्र हू। और यह सब सभव हुआ नाट्य शोध सस्थान मे सग्रहीत सामग्री के कारण। आभारी हू सस्थान की कार्यकारिणी के सदस्यो की जिन्होने इसे प्रकाशित करने का निर्णय किया और जिसे फोर्ड फाउडेशन द्वारा प्राप्त अनुदान से प्रकाशित किया।

प्रतिभा अग्रवाल

हबीब तनवीर

को

उनके इकहत्तरवें वर्ष-प्रवेश पर

सादर

हबीब तनवीर

व्यक्ति

व्यक्तित्व

और

कृतित्व



"मेरा जन्म रायपुर मे 1 सितम्बर सन् 1923 को हुआ। भिलाई के पास छत्तीसगढ का इलाका है, आप रायपुर को उसकी राजधानी कह सकते है। मेरी मा मध्यप्रदेश की थी पर मेरे वालिद पेशावर से आकर रायपुर मे बस गये थे। वही उन्होने शादी की और हम सब भाई-बहनो का जन्म भी वही हुआ। वहा के लारी म्युनिसिपल हाई स्कूल से मैने मैट्रिक किया, और नागपुर के मॉरिस कालेज से बी० ए०। बाद मे एम० ए० के लिए अलीगढ गया लेकिन पढाई पूरी किये बिना ही बम्बई चला गया। बम्बई मे कुछ फिल्मो, कुछ रेडियो मे काम किया। फिर इप्टा की तरफ गया, वहाँ रहा छ-सात साल। और उसके बाद आ गया दिल्ली 1954 के आखीर मे। आते ही दिल्ली के थियेटर से जुडा और काम शुरू किया लेकिन ज्यादा दिन टिक नही पाया। मौका मिला और मै ट्रेनिग के लिए चला गया लदन। इग्लैड मे कई जगह ट्रेनिंग ली, फिर योरोप मे घूमता रहा, थियेटर देखता रहा, थियेटर करने के मनसूबे बनाता रहा। इसमे निकल गये तीन साल। 1958 मे दिल्ली लौटा और तबसे वही हूँ। लौटकर उसी साल हिन्दुस्तानी थियेटर शुरू किया। सन् 1959 मे उससे अलग होकर नया थियेटर शुरू किया, तबसे उसी के साथ हूँ। इस साल (1984) नया थियेटर को पचीस साल हो गये पूरे। यह है मेरे अब तक के सफर की दास्तान।"

अत्यत सक्षेप मे अपने जीवन के साठ वर्षो के सफर के इतिहास को प्रस्तुत करनेवाले थे भारतीय रगमच के सुप्रसिद्ध निर्देशक हबीब तनवीर जिन्होने 6 मई सन् 1984 को नाट्य शोध सस्थान मे बातचीत करते हुए ये तथ्य दिये

थे। आज उस बात को भी नो साल हो गये। अपने पचास वर्षो मे अधिक के रगमचीय जीवनकाल मे हबीब तनवीर ने प्रचुर काम किया है, अनुभव प्राप्त किया है, अनेक बार नई जमीन तोडी हे, नागर और लोक अर्थात् शहरी और ग्रामीण रगमच के बीच सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा मे महत्वपूर्ण काम किया है, लोक-कलाकारो को अपने नाट्य दल का अभिन्न अग बनाकर अपनी प्रस्तुतियो को प्रामाणिकता के साथ-साथ एक नया आयाम दिया है, समन्वित थियेटर (टोटल थियेटर) की आधुनिक अवधारणा के परम्परागत रूप को दर्शको के सामने रखकर उन्हे अपनी समृद्ध विरासत से परिचित कराया है और इस प्रकार कला के क्षेत्र मे शहर और गाव, शिक्षित और अशिक्षित, अमीर और गरीब, सुसस्कृत और असस्कृत आदि शब्दो के बेहिचक प्रयोग के सम्बन्ध मे हमे ठिठककर सोचने को प्रेरित किया है। सभवत हमारे देश मे हबीब ऐसे एकमात्र निर्देशक है जिन्होने तथाकथित सभ्य-सुसस्कृत शहरी प्रस्तुतियो मे लोकनाट्य या लोकपरम्परा का छौक लगाकर उसे सुस्वादु बनाने या चटपटापन प्रदान करने की कोशिश नही की है, कोशिश की है तो लोकनाट्य और लोककला की ताकत और शख्सियत को समझने की, उसे दिल मे गहरे उतारने की और उसके प्रति लोगो के मन मे इज्जत पैदा करने की। हजारो वर्षो से दो भिन्न धरातलो पर विकसित हो रही नाट्य पराम्पराओ का मिलन सदा समन्वित हो पाया हो, एक-जी हो पाया हो सो नही पर जहॉ हो पाया है वहा एक नये रस, नये आनन्द, नये जोश और नयी ताकत का अनुभव जरूर होता है और यही नाट्य जगत को हबीब तनवीर के योगदान का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा है।

हमे पता है इस्लाम मे बुत-परस्ती की मुमानियत हे। तिस पर हबीब के वालिद हाफिज मुहम्मद हयात खान हाफिज बहुत मजहबी शख्स थे ता आर्ट वगैरह की दिशा मे उनसे कुछ बढावा मिलने का सवाल ही नही था लेकिन वालिद के अलावा परिवार के और लोग किसी न किसी रूप मे जुडे थे सगीत और साहित्य से। एक मामू बडे अच्छे गायक थे शास्त्रीय सगीत के, दूसरे शेर बहुत अच्छे लिखते थे। बडे भाई रायपुर की कालीबाडी से जुडे थे और नाटको मे भाग लिया करते थे। जी हॉ, रायपुर मे भी कालीबाडी थी। दरअसल बगाली जहा-जहा भी गये, उन्होने कालीबाडी बनायी जो असलियत मे आर्ट और कल्चर का सेटर हुआ करती है। हबीब तनवीर का थियेटर के साथ पहला परिचय हुआ रायपुर की कालीबाडी के नाटको के माध्यम से।

भाई नाटक मे पार्ट करते थे और हबीब मत्रमुग्ध से उन्हे देखा करते थे, उनके साथ हँसते थे, उनके साथ रोते थे। बचपन मे देखे नाटक 'मुहब्बत का फूल' की चर्चा करते हुए वे बोले—

"रायपुर की कालीबाडी मे जाकर मैं नाटक देखा करता था। एक पारसी नाटक था 'मुहब्बत का फूल' हाफिज अब्दुल्ला का। उसमे मेरे बडे भाई जनाना पार्ट किया करते थे। मुझे उस नाटक की बहुत अच्छी तरह याद है। नाटक शुरू होने का टाइम आठ बजे का होता तो आठ बजे से हॉल के बाहर बैंड बजना शुरू होता और जब तक बैंड बज रहा होता तब तक समझ लीजिए नाटक शुरू नही हुआ है। आठ का नौ, साढे नौ बज जाता, लोग इतमीनान से आते रहते। साढे नौ बजे तक बाहर बैंड बद होता मतलब कि नाटक अब शुरू होनेवाला है। वही बैंड भीतर जाकर आरकेस्ट्रा बन जाता। उन दिनो पर्दा नीचे से ऊपर उठता था, लपेटवा पर्दा होता था। अब तो आडे खुलता है या पूरा सीधा ऊपर जाता है। तब बास के रोलर पर लपेटकर जाता था। मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। पर्दे के पीछे तमाम ऐक्टर लोग सजकर खडे रहते थे प्रार्थना के लिए। पर्दा लिपटना शुरू होता तो सबसे पहले उनके पाव नजर आते, उसके बाद जिस्म और उसके बाद चेहरा। आखिरी चीज़ चेहरा होती थी जो सबसे सजा होता था। इस तरह एक-एक करके ऐक्टर को देखने का ड्रैमेटिक असर कुछ और ही होता था। इस चीज को मैंने बाद मे बम्बई मे कथकली मे देखा। हनुमान की एंट्री थी, कम से कम बीस मिनट लगाये। पर्दे के पीछे हनुमान छिपा रहा। पहले उसने अपने नाखून दिखाये, पर्दे के नीचे से अपनी सजावट दिखायी, फिर मुकुट का जरा सा फुदना दिखाया और फिर आख तक पर्दे को नीचा करके पूरा मुकुट दिखा दिया और उसकी दसो उगलिया पर्दे पे नजर आने लगी। नाखून चमकते हुए, पालिश किये हुए। बहुत अच्छा सजा हुआ—सफेद, सुनहरे और सुर्ख रग की यह स्कीम थी। जब बीस मिनट मे धीरे-धीरे अपने को प्रगट करते हुए हनुमान ने रफ्ता-रफ्ता पर्दे को फेक दिया तो मै देखता रह गया, अजीब एक अनुभव था मेरे लिए। अगर वह एक साथ एन्ट्री ले लेता तो इतनी सजावट को एक नजर मे देख लेना मुश्किल होता। जिस तरह माइकेल अजिलो के म्यूरल को एक बार मे पूरा देखकर उसे नही समझा जा सकता और आर्ट की किताबो मे उसके एक-एक टुकडे छपते है, क्रास सेक्शन और उन सबको

अलग-अलग स्टडी करने के बाद ही पूरा म्यूरल एक साथ देखा और समझा जा सकता है, उसकी हर बारीकी का लुत्फ उठाया जा सकता है उसी तरह कथकली के हनुमान का भी पहले एक-एक हिस्सा, एक-एक टुकडा दिखाया फिर धीरे-धीरे करके पूरा हनुमान सामने आया कि यह है टोटल हनुमान। वह अनुभव और नाटक मे लिपटवा पर्दे का उठना इन दोनो का मेरे ऊपर बहुत असर हुआ। 'मुहब्बत का फूल' मे आशिक को जजीरो मे बाधकर गुफा मे डाल दिया जाता है। उसकी माशूका उसे रोते-रोते ढूढती फिरती है। माशूका का रोल मेरे भाई किया करते थे तो उनके साथ-साथ मै भी रोया करता था। उस रोने का किस्सा यहा तक चला कि मेरे मुहल्ले मे एक दर्जी थे नबी मिया। उन्हे नाटक मे मेरे रोने के वाकया का पता था। तब ही नही बाद मे भी रायपुर जाने पर जब भी मै गोल बाजार से गुजरता वे मुझे बाबा बाबा कहकर पुकारते, चाय-वाय पिलाते और फिर वही मजाक कि 'कैसा रोये थे 'मुहब्बत का फूल' देखकर, क्यो ?' मतलब मै अच्छा खासा जवान हो गया था उस पर भी उनका यह मजाक कायम था।

"मुहब्बत का फूल की कई बाते मुझे खूब याद है। बहुत लुत्फ आता था। एक धमाका होता था और सीन बदल जाता था। कुछ चक्री मच (रिवाल्विग स्टेज) जैसा था, खडखड-खडखड चीजे करती थी, इधर रफ्ता-रफ्ता मालूम हुआ कि पहाड-वहाड आ गये—पेट किये पर्दे तमाम। वो सब बहुत अच्छा लगता था, रगीन रोशनी वगैरह रहती थी। जरूर ही इसका गहरा असर हुआ होगा मुझ पर तभी आज तक ये सब बाते याद है। बचपन का एक और किस्सा याद है—मै दूसरी अग्रेजी मे था तब का। तब वहाँ कोई जलसा-वलसा होनेवाला था। उसके लिए हमारे फारसी के टीचर ने (जो बाद मे मेरे बहनोई हुए) एक नाटक लिखा 'दुरे यतीम उर्फ पालिशवाला।' उस जमाने मे पारसी थियेटर मे यू ही होता था फला फला उर्फ फला। उसमे मुझे पार्ट दिया पालिशवाले का जिसकी एक अमीर आदमी बहुत मदद करता है, उसे तालीम दिलवाता है, बाहर भेजता है वगैरह वगैरह। उस वक्त मेरी उम्र रही होगी बारह-तेरह साल। मेरा यह पहला नाटक था जिसमे मैंने हीरो का काम किया। हमारे ड्रिल मास्टर थे मोहियुद्दीन साहब, बडा अच्छा जिस्म था उनका। उन्होने डाइरेक्शन दिया था। उसमे पहले एक बडी लबी तकरीर थी, एक टुकडा मुझे अभी तक याद है—'दुनिया मक्कारो, अब्लफरेब दुनिया, गरीबो को सतानेवाली

फला चीज को ऐसा करनेवाली दुनिया ।' एक हाथ माथे पर दूसरा यो रखके एंट्री लेनी थी. हर लफ्ज पर एक मुद्रा थी, एक अदा थी, वैसे ही करने को कहा गया हमसे। आज सोचकर हसी आती है कि किस तरह का डाइरेक्शन था, हर स्वर पर जोर पर उस वक्त मै उससे बहुत प्रभावित था। बहुत अकीदत थी, बहुत श्रद्धा थी उस वक्त अपने टीचरो के प्रति। तो ये नाटक बहुत कामयाब रहा, स्कूल का ड्रामा था, लडको ने देखा।

"उसी जमाने मे शेक्सपीयर के 'किग जान' का एक सीन हमने अग्रेजी मे किया था—'ह्यूबर्ट और प्रिस आर्थर'। मेरे बचपन के एक बडे अच्छे दोस्त थे अजीज हामिद मदनी। बडे अच्छे शायर थे, अब पाकिस्तान मे है। हम दोनो साथ-साथ शायरी किया करते थे। वे बने थे ह्यूबर्ट और मै प्रिस आर्थर। हमने वो सीन किया था जिसमे ह्यूबर्ट प्रिस आर्थर की आख फोडने आता है, कडी-कडी बाते कहता भी है लेकिन आखीर मे बदल जाता है और आख नही फोडता। बस, इतना सा सीन किया था हमने पर याद है। यह अनुभव था स्कूल का। फिर आ गया कालेज मे। उस जमाने मे मारिस कालेज मे मुझसे सीनियर हुआ करते थे किशोर साहू। नागपुर का मारिस कालेज अलग है, लखनऊ वाले म्यूजिक के मारिस कालेज से। नागपुर के डिप्टी कमिश्नर थे मारिस साहब, उन्ही के नाम पर था। अब तो शायद नाम भी बदल गया होगा। तो किशोर साहू उन दिनो कालेज मे काफी ऐक्टिव थे, ड्रैमेटिक्स मे भाग वगैरह लिया करते थे। मुझे भी जब मौका मिलता, करता और इस तरह करते-करते बी० ए० की तालीम पूरी हुई और मेरे थियेटर का पहला दौर भी।"

पहले बताया जा चुका है कि एम० ए० के लिए हबीब तनवीर अलीगढ गये लेकिन आगे की गाडी सीधी पटरी पर न चली। वालिद चाहते थे लडका तालीम पूरी करके आइ० सी० एस० बने। हबीब पढने मे अच्छे थे, फर्स्ट डिविजन मिलता था लेकिन इनकी नजर लगी बम्बई की ओर। कुछ फोटो वगैरह खिचवाकर भेजी लेकिन बम्बई जाकर प्रोड्यूसरो-डाइरेक्टरो के पीछे घूमने की, उनकी जी-हुजूरी करने की सामर्थ्य नही थी। साधारण मिडिल क्लास वाले वालिद—उन्हे न तो फिल्म मे जाने का इरादा रास आनेवाला था और न ही पास मे लुटाने को पैसे थे। इधर हुआ यह कि पढाई से जी उचटने लगा। कुछ राजनीति की ओर झुकाव भी होने लगा चुनाचे सब कुछ अनिश्चित, डावाडोल। लेकिन कुछ किये बिना गुजारा

होनेवाला नही था । उन दिनो लडाई का जमाना था, बात सन् 1945 की है सो नेवी के लिए अर्जी की । जिला के स्तर पर तो रायपुर और नागपुर मे निकल गये लेकिन तीसरा और आखिरी टेस्ट था लोनावला मे, वहाँ आई० क्यू० वगैरह मे पास हो गये लेकिन शारीरिक टेस्ट मे फेल । दस-बारह लोगो के साथ एक पुल पार करना था, निश्चित समय के अदर । और सब निकल गये, ये खडे सोचते ही रह गये । नतीजा फेल, नेवी मे भर्ती होने का सपना खत्म हुआ ।

वैसे इस टेस्ट मे नाकामयाब होने का कोई खास गम हबीब साहब को नही हुआ क्योकि एक नजर तो बम्बई की ओर थी ही । मन मे तै कर रखा था कि लोनावला मे न हुआ तो बम्बई चले जायेगे । आने-जाने का दूसरे दर्जे का टिकट था । न जान न पहचान किसी से । दो-चार दिन फुटपाथ पर काटे फिर एक दिन मिल गये जुलफिकार अली बुखारी । अपने साथ रेडियो ले गये, वे उन दिनो रेडियो मे प्रोड्यूसर थे । वे अपने साथ ही ले गये सोवो हाउस जिसके मालिक थे ताहिर अली । उनकी एक गोला-बारूद की फैक्टरी थी, लडाई की कुछ चीजे बनती थी सो उन्होने वहा सुपरवाइजर की नौकरी दे दी हबीब को । गाडी चल पडी और चल ही नही पडी दौडने लगी क्योकि इन्हे अगली सफलता जो मिली वह ताज्जुब मे डालनेवाली थी । एक दिन ये 'पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' देखने के बाद पास के एक रेस्त्रा मे बैठे बातचीत कर रहे थे । बगल के टेबुल पर बैठे मद्रास के एक डाइरेक्टर सूर्यम इनकी बाते सुन रहे थे । बातचीत से यह अदाज लगने पर कि हबीब की फिल्म मे काम करने मे रुचि हो सकती है, वे उठकर इनके टेबुल पर आये, बातचीत की । उन्हे अपनी नयी फिल्म 'आप के लिए' के हीरो की तलाश थी, उन्होने हबीब को बुक कर लिया । मतलब यह कि बम्बई पहुचने के हफ्ते भर के भीतर हबीब साहब को नौकरी भी मिल गयी और फिल्म मे काम भी । वापसी टिकट था ही, फिल्मवालो ने कुछ एडवान्स दे दिया । घर आकर सामान वगैरह लेकर बम्बई दुबारा पहुचे । फिल्म मे काम भी किया और गोला-बारूद की फैक्टरी मे सुपरवाइजर की नौकरी भी । इतना ही नही बुखारी साहब की कृपा से रेडियो के प्रोग्राम भी मिलते रहे खूब और फिल्मो का रिव्यू करना भी शुरू कर दिया । नये-नये थे, खून मे गर्मी थी, तीखी समालोचना करने लगे । एक दिन बाबूराव पटेल बुखारी से मिलने आये । उन्होने हबीब को समझाया कि ऐसी खरी आलोचना मत किया करो,

फिल्म इडस्ट्री मे गुडे भरे है, नुकसान होने पर वे तुम्हे नही छोडेगे। फिर हसकर बोले—'मेरे दफ्तर मे आ जाओ, मै गुडो का गुडा हूँ, वहा होने से कोई तुम्हारा बाल बाका नही कर सकेगा।' खैर, हबीब रुकनेवाले नही थे, बात टाल गये। फिल्म के रिव्यू का यह सिलसिला जो सन् 1946 मे शुरू हुआ, करीब दो दशको तक कायम रहा और फिल्म तथा नाटक दोनो की खुली समीक्षा हबीब करते रहे। समीक्षक का क्या रोल होना चाहिए इस बारे मे बहुत बाद मे जून 1970 मे दिल्ली की अग्रेजी रग-पत्रिका इनैक्ट मे प्रकाशित एक बातचीत मे अभीक घोष के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होने बहुत साफ शब्दो मे कहा—

"दिल्ली के अखबारो मे छपनेवाली समीक्षा निचले दर्जे की होती है। यह रिपोर्टिंग अधिक समीक्षा कम होती है। जानकार आदमी की समीक्षा भी यह नही होती। मुझे पता है कि यह कहा जाता रहा है कि नाटक के डाइरेक्टर को समीक्षक नही होना चाहिए लेकिन सामान्य रूप से यह बात ठीक नही, नही कही जानी चाहिए। वैसे मै जानता हूँ कि दिल्ली के केस मे और जिस तरह का थियेटर क्रिटिसिजम आजकल हो रहा है, उसको देखते हुए यह ठीक है। मै कहना चाहता हूँ कि डाइरेक्टर-प्रोड्यूसर के समीक्षा न करने से फर्क पडेगा। दूसरे शब्दो मे यह कि आम तौर पर दिल्ली की थियेटर समीक्षा मे आबजेक्टिव क्रिटिसिजम, फार्म और खेले गये नाटक के कथानक आदि के विश्लेषण का अभाव रहता है।

"यह सही है कि अभी हाल तक, दो साल पहले तक मै क्रिटिक था और मै मानता हूँ कि मेरा क्रिटिसिजम बहुत अच्छा होता था, वैसे ही जैसे कि मेरे नाटक। मैन छोडा तो केवल इसलिए कि मै उतना समय नही निकाल पाता था। मुझे यह भी लगा कि कही ऐसा तो नही कि मेरा डाइरेक्टर मेरे क्रिटिक पर हावी हो जाता हो और मैं समीक्षा करते समय अपनी डाइरेक्टर वाली दृष्टि से प्रभावित रहता होऊँ—खासकर तब जब मै उतना ऐक्टिव नही रह गया था। मैने नाटक का क्रिटिसिजम कुठित (frustrated) या निष्क्रिय (in-active) होने के कारण नही शुरू किया था। यह तो मैने शुरू किया पाचवे दशक मे। दरअसल कुठित तो मै अब हू। आदमी अपने को बधा-बधा महसूस करता है। पहले, थियेटर पूरे समय व्यस्त रखता था, आदमी को काम की चिता नही रहती थी, किसी तरह गुजारा कर लेता था। अब रहने का स्तर ऊँचा हो गया है, काम के बिना चलता नही इसलिए नौकरी

जरूरी हो गयी है। थियेटर से दूसरे तरह का लगाव हुआ, वह शाम की मौजमस्ती और तफरीह का साधन भर अब नही रह गया। लिखना विलास हो गया। दरअसल मैने समीक्षा छोडी समय के अभाव के कारण।

"एक बात और कहूँ। आम तौर पर नाटक करनेवाले क्रिटिक से असतुष्ट रहते है क्योकि नाटक की क्रिटिसिजम का स्तर बहुत नीचा होता है। क्रिटिक या तो बिना औचित्य के किसी नाटक की वाही-तबाही कर देते है या फिर तारीफ के पुल बाध देते है। आम तौर पर किसी का ढग से क्रिटिसिजम किया ही नही जाता। 'वीक प्रोडक्शन' 'शौकिया अभिनय' 'न कथा न कथानक' आदि जैसे फतवे कोई मानी नही रखते। 'आगरा बाजार' के बारे मे हिन्दुस्तान टाइम्स ने 'नो प्लाट, नो थीम' का फतवा दिया था, बात मेरे गले के नीचे नही उतरी। शायद क्रिटिक का मतलब कमजोर कथानक या कमजोर शैली से था। सचमुच यदि क्रिटिक इस उक्ति से दर्शक या नाटक दल तक कोई खास बात पहुचाना चाहता हो तो उसे और खुलासा करना होगा। दर्शको का भी ऐसा ही आलसी रवैया रहता है, न सोचे-समझेगे, न गहरे झाकेगे। एक क्रिटिक को अधिक गहरायी मे जाना चाहिए। मेरे कहने का यह मकसद नही कि वह नाटक की कथा और उसकी बुनावट का विस्तार से वर्णन करे—वैसे आम तौर पर होता यही है। थियेटर साहित्यिक माध्यम नही है इसलिए किसी प्रोडक्शन की नाटकीय प्रकृति और विशेषता की गहरायी से जाच-पडताल की जानी चाहिए न कि कुछ चालू फिकरे कसकर छुट्टी पा लेना चाहिए। मसलन यह फिकरा कि—ऐक्टिग की अपरिपक्वता (immaturity)। मुझे किसी नाटक मे ऐक्टरो का चुनाव करने मे बहुत मुश्किल का सामना करना पडता हे क्योकि मै सही स्पीच पर बहुत जोर देता हूँ। अधिकतर ऐक्टरो का साहित्य से कोई वास्ता नही होता। मेरे ऐक्टरो में अधिकतर बिना पढे-लिखे है, वैसे यह उनका गुण भी है। यदि आप एक ऐतिहासिक नाटक मे भाग ले रहे हे तो यह जरूरी हे कि आप उस जमाने के साहित्य, भाषा, बोलचाल के लहजे और लय के साथ ही हाथ-पाव हिलाने और खडे होने वगैरह के तरीके से परिचित हो। अब यह क्रिटिक के देखने की बात है कि ऐक्टर का चुनाव करते समय डाइरेक्टर ने किन बातो को ज्यादा अहमियत दी है। अपरिपक्वता (immaturity) बडा चालू लफ्ज है। हम सभी अपरिपक्व है। हालात मे सुधार हुआ है लेकिन अभी भी थियेटर पेशेवर नही हुआ है। यदि पेशेवर थियेटर होता तो थियेटर की एक मार्केट होती, मुकाबला

होता, स्पर्द्धा होती और अच्छे से अच्छे आर्टिस्ट हमे मिलते । लेकिन आज क्या स्थिति है । आज एक लडका कालेज से मान लीजिए, इजीनियरिग पास करके निकलता है । उसे नाटक करने का शौक है, काबलियत भी है उसमे पर उसके सामने चुनाव की गुजाइश कहा है—उसे तो इजीनियरिग की नौकरी मे ही जाना होगा । नतीजा यह कि उसकी काबलियत को फलने-फूलने का मौका ही नहीं मिलता । हकीकत यह है कि थियेटर मे आमतौर पर वही लोग आते है जो दोयम दर्जे के होते है । नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा मे आनेवाले लडको मे बहुतो की हालत वही है—दो सौ रुपये महीने की स्कालरशिप उनका सहारा बनती है । यही बात क्रिटिक पर भी लागू होती है । इसीलिए हमारे यहा क्रिटिसिजम नही रिपोर्टिंग होती है—उकसाने, तारीफ करने या फिर फटकारने सभी कामो के लिए सभी दृष्टियो से ।" (इनैक्ट, जून 1970 मे प्रकाशित बातचीत पर आधारित) ।

हाँ, तो बम्बई रहने के दौरान हबीब फिल्मो और नाटको दोनो से जुडे । उस जमाने मे बम्बई मे बननेवाली फिल्म 'धरती का लाल' का विशेष महत्व है । बिजन भट्टाचार्य लिखित 'नबान्न' और कृशनचदर की कहानी 'अन्नदाता' पर आधारित इस फिल्म मे शभु मित्र, तृप्ति मित्र एव जबानबदी नाटक के मूल कलाकारो मे से कइयो ने अभिनय किया । निर्देशक थे ख्वाजा अहमद अब्बास । सभवत' आधुनिक शौकिया रगमच और वामपथी विचारधारा से प्रभावित कलाकारो को लेकर बनायी गई यह पहली फिल्म थी जो अनेक मानो मे अपने युग की अन्यान्य फिल्मो से बहुत भिन्न थी । हबीब तनवीर ने इस ऐतिहासिक फिल्म मे तो काम नही किया लेकिन अब्बास की अन्यान्य फिल्मो 'राही' 'दिया जले सारी रात' तथा 'आकाश' मे किया । राही मे देवानद प्रथम हीरो थे, हबीब तनवीर दूसरे । इसी प्रकार बेडेकर की फिल्म 'लोकमान्य तिलक' मे जागीरदार लोकमान्य थे और हबीब जेलर । उन्होने इस फिल्म मे बहुत कुछ सीखा, बहुत कुछ जाना । हबीब ने जिया सरहदी की फिल्म 'फुटपाथ' मे महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और साथ ही एस० के० ओझा की 'नाज', इजरा मीर की 'बीते दिन' आदि मे भी काम किया । 'बीते दिन' मे सवाद और गाने भी हबीब तनवीर के थे । कहने का मतलब यह कि उन दिनो कुल मिलाकर सात-आठ फिल्मो मे अभिनय किया । उसके बाद फिल्मो मे काम करने का क्रम ढीला पड गया—

ढीला क्या पडा, कहना चाहिए छूट ही गया। वर्षों बाद सन् 1986 मे हबीब तनवीर ने 'यह वह मजिल तो नही' नामक फिल्म मे श्रेष्ठ अभिनय किया। उसे देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। अत्यन्त सहज रूप से मन की परतो का उद्घाटन हबीब करते गये है, दर्शक मत्रमुग्ध-सा देखता रहता है।

बम्बई प्रवास के दौरान ही हबीब तनवीर ने फिल्म इडिया के सहायक एडिटर के रूप मे भी काम किया। फिल्म इण्डिया की पूरी फाइल नेशनल फिल्म आरकाइव, पुणे मे सुरक्षित है। आश्चर्य है कि पर्याप्त कम उम्र मे फिल्म मे हीरो का रोल मिलने के बावजूद और बाइस-चौबीस वर्ष की कच्ची उम्र मे ही बम्बई के फिल्म जगत से जुडने के बावजूद हबीब उससे बधे नही, बधे तो थियेटर से। असल मे थियेटर से जुडने का शुभारभ भी बबई मे ही हुआ। उसके पहले तक स्कूल कालेज के नाटको मे जरूर भाग लिया था लेकिन ऐसा तो बहुतेरे लडके करते है और बाद मे थियेटर से उनका कोई वास्ता नही रह जाता। हबीब की जडे गहरी थी, मन का उस ओर रुझान अधिक तीव्र था। ख्वाजा अहमद अब्बास उन दिनो इप्टा अर्थात् IPTA अर्थात् इडियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन से गहराई से जुडे थे। उनके साथ ही सक्रिय थे बलराज साहनी और दीना गाधी (बाद मे पाठक)। हबीब ने पहला नाटक किया बलराज के निर्देशन मे। काश्मीर की आजादी से जुडा कथानक था—डोगरा आदोलन से सम्बन्धित था। लेखक और निर्देशक दोनो ही थे बलराज साहनी। उसमे हीरो था एक आजादी-पसद शायर, हबीब ने वह रोल किया। उसके बाद किया गया—'दकन की एक रात'। एक चीनी कथा पर आधारित इस नाटक के लेखक थे विश्वमित्र आदिल जो उर्दू के शायर थे, इप्टा से जुडे थे। शायद कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर थे, बाद मे फिल्मो मे भी गये। नाटक का सम्बन्ध था तेलगाना के आदोलन से। बलराज के निर्देशन म तैयारी शुरू हुई। हबीब अस्सी-नब्बे वर्ष के एक ऐसे बूढे की भूमिका कर रहे थे जिसका बेटा मर गया था। यह नाटक सन् 1)48 मे इलाहाबाद मे होने वाली इप्टा की कान्फरेन्स मे खेला जानेवाला था। बम्बई से तैयारी करके ये लोग इलाहाबाद पहुचे। आगरा से राजेन्द्र रघुवशी, नेमिचद्र जैन वगैरह आये थे, और भी बहुतेरे लोग थे। इलाहाबाद मे भी रिहर्सल चालू रहा। एक दिन का वाकया हबीब तनवीर के शब्दो मे सुनिए—

"रात दो बजे तक रिहर्सल होता रहा। बलराज मेरे पीछे पडे थे कि मै बुडढा ठीक से नही बन पा रहा था खास तौर पर बेटे के मरने पर मेरा रोना बहुत बनावटी लग रहा था। मुझसे हो ही नही रहा था कि बलराज ने मुझे जोर का एक तमाचा लगाया, गाल पर पाचो उ गलिया उभर आयी। बोले—'अब रोओ और बोलो'। रोना तो आ ही गया था, रोते-रोते डायलग बोला। डायलग खत्म होने पर उन्होने लिपटा-चिपटा लिया और बोले कि—'अब तुम ठीक से रो सकोगे वरना तुम्हारा रोना इस कदर बनावटी हो रहा था कि मेरे पास और कोई उपाय नही था। मैने तुम्हे गुस्से मे नही मारा था, जान-बूझकर मारा था। तुम्हे रोना नही आ रहा था, तुम्हे एक तजुर्बे की जरूरत थी जिसे याद करके तुम रो सकते, उस तजुर्बे को हूबहू उतार सकते, री-प्रोड्यूस कर सकते। मैने तुम्हे यह तजुर्बा करवाया। स्टान्सलवास्की ने याददाश्त के सिलसिले मे मसक्युलर मेमरी की बात कही है। मै उन सब पर बहुत विश्वास नही करता लेकिन तुम्हारे साथ वह तरीका आजमाने के सिवा और कोई उपाय नही था।' उस समय तो बात बन गयी, तजुर्बे ने मेरी मदद की पर मन मे सोचा—बराबर यह तरीका मुझ पर आजमाया गया तो मेरी क्या गति होगी। खैर, ऐसा मौका नही पडा। बाद मे समझ मे आया कि बलराज के कहने मे एक हद तक सच्चाई थी। मै बाली मे एक कलाकार से मिला, नामी डासर थे, देश-विदेश घूम आये थे। वे बाली मे बच्चो को नाच सिखा रहे थे। बाली मे नाचते समय पीठ को थोडा झुकाकर गर्दन को सामने करके नाचते है। वे अपने हाथ पीछे से बच्चो के हाथो के नीचे से ले जाकर दोनो हाथो को गर्दन के ऊपर रखकर और उगलियो को बद करके गर्दन को झुकाते थे ताकि उनकी पीठ का खम ठीक से कायम हो जाये। पूछने पर उन्होने भी मसक्युलर मेमरी (पेशीगत याददाश्त) की बात कही। बोले—इन बातो को समझाने मे बहुत बाते कहनी पडती है फिर भी पूरा मतलब नही समझाया जा सकता। यो करके बता देने से उनकी पेशियो को वह याद रह जाता है और फिर बच्चे अपने आप वह खम पकड लेते है। तो बलराज द्वारा सिखाया वह तजुर्बा और बाली के डासर की उस बात ने मुझ पर असर डाला, मेरी याददाश्त मे ये आज तक बनी है।

"इलाहाबाद का एक और किस्सा सुनाऊ। वहा 'दकन की एक रात' के साथ ही हम 'जादू की कुर्सी' नाम का नाटक भी ले गये थे। जबरदस्त व्यग्य था। हम सबने मिलकर इमप्रोवाइज किया था। मोहन सहगल

डाइरेक्टर थे, बलराज मेन रोल कर रहे थे, मैं जज बना था, दीना रिट पिटीशन (writ petition) लानेवाली थी। यह बहुत मशहूर हुआ उस जमाने मे—ऐसा कि पुलिस पीछे लग गयी। उसे शक हुआ कि इसमे कुछ दहशत फैलानेवाली बाते है। हम इलाहाबाद से जबलपुर पहुचे तो वहा पुलिस पूछती फिरी कि 'इप्टा साहब कहा ठहरे है ? कहा है ?'। बडा मजा आया। पुलिस इप्टा साहब को खोजती रही और हम अपना नाटक करते रहे। लेकिन शो तकरीबन रोकना पडा, पुलिस को असलियत का पता चल गया था, वह पहुच गयी थी। खैर, जबलपुर मे शो कर-कराके हमलोग फौरन बम्बई चले आये। बम्बई मे उन दिनो एक और एजिटेशन चल रहा था। देश आजाद तो हो गया था लेकिन कामनवेल्थ का मेम्बर बना रहा। कम्यूनिस्ट पार्टी का कहना था कि यह आजादी असली आजादी नही है। हम अभी भी अग्रेजो के गुलाम है, हमे इनसे मुक्ति पाना है। अपनी ही सरकार ने आदोलन को दबाने की कोशिश की, पुलिस ने कार्यवाही की हैदराबाद मे, यहा-वहा। बम्बई मे भी बहुत कुछ हुआ। इप्टा तो कम्यूनिस्ट पार्टी का सास्कृतिक विग था ही, पार्टी की लाइन इप्टा के प्रोग्रामो से जाहिर होती थी। मै पार्टी का मेम्बर नही था लेकिन चलता था उसी के दिखलाये रास्ते पर। एक जुलूस निकला जिसमे हम सब थे। लाठी चली, गोली चली, हमारा एक साथी मर भी गया। मुझे भी हल्की सी लाठी लगी। इप्टा के सब बडे-बडे लीडर पकड लिये गये—बलराज भी अदर, दीना भी अन्दर। मै बच गया और अडरग्राउ ड हो गया। मै अपने आपको लीडर समझ रहा था इसलिए डॉक्टर के पास नही गया कि कोई पहचान लेगा और मैं पकड लिया जाऊँगा। कई दिनो बाद सुरेन्द्र अहूजा को पता चला तो मेरे पास आये और बोले—'आपकी कोई तलाश नही कर रहा है। उनको जिनकी जरूरत थी उनको उन्होने पकड लिया। आप इतने बडे लीडर नही है कि आपको अडरग्राउड जाने की जरूरत पडे। आप बाहर निकलिए। आदेश आया है, चलकर काम कीजिए।' मेरा सारा भरम टूट गया। मै उन दिनो इप्टा का सेक्रेटरी था, आरगनाइजर था, लेखक और ऐक्टर तो था ही। और हा, पहली बार डाइरेक्टर बनने भी जा रहा था। सो मै अडरग्राउण्ड से अपरग्राउण्ड मे आ गया।

"बम्बई के इप्टा की उन दिनो की कुछ बाते जिनसे मेरा जाती ताल्लुक था, जिन चीजो का मुझ पर गालिबन असर पडा उनके बारे मे बतलाऊ पहले। ऑपेरा हाउस के सामने एक हॉल है—शायद दामोदर हॉल। वहा

अलग-अलग खोलियो मे हम बैठते थे—अलग-अलग खोलियो मे अलग-अलग विंग— मराठी विंग, हिन्दी विंग, तेलुगु विंग। एक गुजराती विंग भी था। मराठी विंग मे अमर शेख थे। सीधे गाव से आकर इस आदोलन से जुडे। अन्ना भाऊ साठे मदूजर तबके के आदमी थे, बडी उम्दा कहानी लिखते थे। गोलवलकर थे, वे भी गाव से जुडे थे। बाद मे फिल्मो के जाने-माने गीतकार शैलेन्द्र उन दिनो हिन्दी विंग मे थे, गाते भी थे। मोहन डासर थे जो बाद मे फिल्मो मे मशहूर हुए। अब आप सोचिए, कैसे-कैसे लोग थे साथ। पढे-लिखे नही थे पर गाव से जुडे थे, उम्दा कहानिया लिख सकते थे। कल्पना किसी की बपौती नही होती। साठे के पास भाषा टूटी-फूटी होती थी, बम्बई मे जो बोली जाती है उसी जबान मे लिखता था पर बडी उम्दा चीज लिखता था। एक नयापन, एक तीखापन होता था उसमे। उन सबका यकीनन मुझ पर असर पडता था। जनरल बॉडी की मीटिंग मे हम सब लोग साथ बैठते थे, एक साथ मिलकर सोचते थे। हमारे एक मद्रास के साथी थे रामाराव। वैसे वे आरगनाइजर ज्यादा आर्टिस्ट कम थे मगर एक दिन उनको एक थीम सूझी कि इस पर ड्रामा किया जाये तो कैसा रहेगा। थीम बेकारी को लेकर थी, छोटी-सी डल-सी पर हमे कुरेद रही थी खासकर बलराज को। एक दिन हम सब बैठे। रामाराव ने उस कहानी को थोडा बढाया, मोहन सहगल उसे कुछ और आगे ले गये। दस-पद्रह मिनिट के अदर एक छोटा सा स्किट निकल आया उसमे से। फिर उसमे दो-एक ऐक्टर आये, मै जुडा, दीना जुडी। निर्देशक थे मोहन सहगल। हमसे कहा गया अपने-अपने पार्ट के बारे मे सोचो तुमलोग। हम लोग अपने-अपने पार्ट के बारे मे सोचते रहे, इटरेस्टिंग बनाने के लिए उसे कॉमेडी का रूप दिया गया और वह धीरे-धीरे बढता रहा। बलराज ने बडी अच्छी कॉमेडी बनायी। दस-पद्रह मिनट का स्किट देखते-देखते डेढ घटे का नाटक बन गया और सब इम्प्रोवाइजेशन के बल पर हाथ के हाथ होता गया। हर ऐक्टर अपनी-अपनी चीज लाके जोडता और उसके अदर से एक अजीब हारमोनियस ब्लेड (सुसगत सम्मिश्रण) पैदा हो रहा था। वह मेरे लिए एक बडा तजुर्बा था, उसे सभी लोग आज तक याद करते है। अफसोस कि उसका स्क्रिप्ट हमारे पास नही रहा। हमारे एक साथी थे मुगली। उनका छोटा भाई नूरनबी अब्बासी बराबर आया करता था। उसका हाफिजा इतना तेज था कि उसे पूरा-पूरा नाटक याद हो जाता था देखते-देखते। कई बार सोचा कि उसके पास बैठकर नाटक लिख डालू पर वैसा कर नही पाया। नूर अभी मौजूद

तो है पर उसे नाटक भूल गया, और किसी को भी याद नही रहा। यही वह नाटक था जिसके पीछे पुलिस इप्टा साहब को खोजती फिरी—'जादू की कुर्सी'। ऐसी कलेक्टिव फक्शनिग (समवेत क्रियाकलाप) थी इप्टा की उन दिनो।

"बडा तीखा पर मजेदार सटायर (व्यग्य) था 'जादू की कुर्सी' मे। किस्सा यो था कि जो पावर मे आता था वह उस कुर्सी पर बैठते ही बदल जाता था। वो पार्ट बलराज खुद करते थे। नाटक शुरू यो होता था कि एक डाइरेक्टर स्टेज के ऊपर कुछ ऐक्टरो को लेकर एक नाटक तैयार कर रहे है। फिर एक कुर्सी आती है और उस पर बैठते ही बलराज बदल जाते थे जैसे पावर का नशा चढ गया हो, कुछ का कुछ बोलने लगते थे। बहुत ही हसानेवाला नाटक था। इस सिलसिले मे एक बात कहूँ—बलराज इतना बडा ऐक्टर था, इतने तरह के रोल किये उसने फिल्मो मे लेकिन किसी ने अदाज ही नही लगाया कि वह कितना बडा कॉमेडियन था। टाइमिग का कैसा जबरदस्त सेस था उसे यह हम्ही जानते है। बलराज ने एक और नाटक निकाला था 'दुकान' लेकिन मुझे तो अच्छा नही लगता था क्योकि उसमे वही घिसा-पिटा अभिनय करते थे। बाद मे उसमे बहुत निखार आया लेकिन मै तब की बात कर रहा हू जब वे बी०बी०सी० से सीधे आये थे। उनकी बीबी दमयन्ती पृथ्वीराज के साथ पृथ्वी थियेटर्स मे काम करती थी, बडा अच्छा। यकायक मर गयी कालरा मे। हम सब उसे बहुत चाहते थे, बहुत रज हुआ हमे। हा, तो बात 'दुकान' की हो रही थी। उसमे बलराज खूब रोते-धोते थे, न कोई लगाम था न मैच्योरिटी। मुझे बहुत खराब लगता था। खैर, बाद मे जब देखा—करीब साल भर बाद—तब बहुत फर्क आ गया था, इतने मैच्योर हो गये थे बलराज। मुझे बडा अफसोस है कि उन्हे कामेडियन की तरह कभी नही लिया गया। बाद मे उन्होने 'गवर्नमेन्ट इसपेक्टर' किया, और बाकी चीजे की। उन्होने खुद को कामेडियन के रूप मे पहचान लिया था। बडा सहज ऐक्टिग था बलराज का, कोई जोर ही नही आता था उसे।"

हबीब तनवीर पुराने दिनो की याद मे खो गये। बम्बई प्रवास के वे दिन, इप्टा के बैनर मे किया गया काम, बलराज साहनी, दीना गाधी वगैरह का साथ, नुक्कड नाटको का मचन आदि। वह जमाना स्वतत्रता प्राप्ति के आगे-पीछे के कुछेक वर्षो का था अर्थात् सन् 1944-45 से लेकर 1950-52

तक का। देश ने अंग्रेजो की गुलामी से मुक्ति पा ली थी लेकिन कम्यूनिस्ट आदर्शों के अनुसार सही मानो मे हम स्वाधीन नही हुए थे क्योकि कामनवेल्थ का सदस्य बने रहकर हम उस तत्र के अभिन्न अग के रूप मे रह गये थे। सन् 1948 के आस-पास सारा काम इसी दृष्टि से किया जा रहा था। उन दिनो नुक्कड नाटक—जिसे तब स्ट्रीट प्ले कहते थे—का इस्तेमाल कम्यूनिस्ट विचार-पद्धति के प्रचार के लिए खूब किया गया। नुक्कड नाटको मे 'नकले मकानी' काफी चर्चित रहा। राजेन्द्र सिह बेदी के इस नाटक मे जोहरा सहगल और हबीब तनवीर ने मुख्य भूमिकाओ मे अभिनय किया। निर्देशन सभवत बलराज का था। बात सन् 46-47 की। इस क्रम मे हबीब तनवीर ने भी 'शातिदूत कामगार' (1948) नामक एक नुक्कड नाटक तैयार करवाया। स्ट्रीट प्ले के बारे मे हबीब का कहना है कि इसका महत्व थोडे समय के लिए होता है। कोई मुद्दा सामने आता है तो उसे झट नाटक का रूप देकर जनता के सामने रख दिया जाता है। वह काम बन गया तो नाटक का महत्व खत्म हो गया, वह बेकार हो गया। पर हा, आपका काम बना, यह महत्व की बात है। 'शातिदूत कामगार' उनके द्वारा निर्देशित पहला नाटक था। प्रस्तुति इप्टा की थी। आमतौर पर ये नुक्कड नाटक मिलो के गेट पर शिफ्ट बदलने के समय खेले जाते थे—अगली शिफ्ट के लिए आनेवाला दल मिल मे घुसने से पहले और छुट्टी पाकर निकलनेवाला दल बाहर आकर इन नाटको को देखता था। बडे नाटकीय ढग से सब काम होता था, लोगो को पता ही नही चलता था कि नाटक हो रहा है, वे जो कुछ घटित होता उसे वास्तविक घटना ही मानते। नाटक शुरू होता यू कि दो लोग पोस्टर, रग और गोद का डब्बा लेकर पोस्टर लगाने आते। फिर पोस्टर लगाते-लगाते आपस मे झगड बैठते। दो-एक और लोग जुट जाते, दो-एक औरते भी। एक पुलिसवाला आकर उन्हे पोस्टर लगाने को मना करता तब उनमे से एक किसी ऊँची चीज या जगह पर खडा होकर शाति पर एक तकरीर देता। तब तक काफी तमाशबीन इकट्ठा हो गये होते और तकरीर के साथ नाटक समाप्त हो जाता। लोगो ने सुन रखा था कि चीन मे आदोलन-कारी यही करते थे, किसी सार्वजनिक जगह जैसे रेस्त्रॉ वगैरह मे पहुच गये, आपस मे झगडा शुरू कर दिया और फिर जो कहना होता कह डालते। आस-पास के लोग उत्सुकता से बात सुनते। बम्बई मे इप्टा इसी तरीके का इस्तेमाल करता था, मिल के दरवाजो पर मजमा जुटाकर अपने सिद्धान्तो का प्रचार करता था। एक बार की बात है कि नाटक के दौरान दूर से एक

पुलिसवाला आता दिखा। नाटक मे पुलिस बने ऐक्टर ने सोचा कि उसे बिना बताये किसी और को वह पार्ट दे दिया गया है। वह अच्छी तरह नही कर रहा था यह सच था पर उसे बदला नही गया था। जब वह नये ऐक्टर से पार्ट करवाने पर नाराज होकर टोपी फेककर जाने लगा तब उससे कहा गया कि 'वह सचमुच का पुलिस का आदमी है, नकली नही। तुम झटपट अपना रोल करके नौ-दो ग्यारह हो।' तब उसे समझ मे आया और उसने अपना रोल किया। कभी-कभी ऐसे मजेदार किस्से हो जाया करते थे।

अब तक दीना गाधी और बलराज साहनी जेल से छूटकर आ चुके थे लेकिन सब कोलाइटिस के शिकार होकर लौटे थे, बुरा हाल था सबका। दीना अभिनेत्री के रूप मे 'शातिदूत कामगार' मे हबीब के साथ शामिल थी। लेकिन इस जमाने मे इप्टा केवल नुक्कड नाटक या प्रचारात्मक नाटक ही नही कर रहा था, और भी बहुत कुछ कर रहा था। इप्टा का अग्रेजी विग ओडेट्स का 'वेटिग फार लेफ्टी' और जे० बी० प्रीस्टली का 'ऐन इन्सपेक्टर कॉल्स' कर रहा था, तो गुजराती विग दीना गाधी के नेतृत्व मे ऐतिहासिक नाटक कर रहा था जिसकी मूल कथा का सम्बन्ध किसानो के सघर्ष से था। स्वय हबीब ने प्रेमचन्द की कहानी 'शतरज के खिलाडी' का नाट्य रूपातर 'शतरज के मोहरे' (1948 नाम से पहले एकाकी के रूप मे किया फिर उसे बढाकर पूर्णाङ्ग नाटक का रूप दिया। निर्देशन दीना गाधी का था, दीना गाधी और हबीब दोनो अभिनय भी करते थे। प्रेमचन्द दिवस पर पहला प्रदर्शन किया फिर बम्बई मे किया, हैदराबाद लेकर गये। बाद मे दिल्ली मे फिर से हबीब ने नयी प्रस्तुति तैयार की और कई बार किया। नाटक काफी बदलता गया पर मूल ढाचा वही था। असल मे उस जमाने मे इप्टा ने बडे फलक पर अपने आदर्शो को प्रस्तुत किया। एक ओर सामन्तवाद को रखते थे तो दूसरी ओर किसानो के आदर्शो को सूक्ष्म ढग से रखते थे। तात्कालिक मसलो पर उकसानेवाले नाटक भी किये जाते थे। चालो (बम्बई मे निम्नवर्ग का आवास स्थल, वगैरह मे रहनेवाले लोगो की समस्याओ, तकलीफो को जाना, समझा और फिर उस पर एक छोटा नाटक तैयार करके उन्ही के बीच खेल दिया। इससे चाल मे रहनेवालो के सामने अपनी समस्याए और उभर कर आती थी, वे उस बारे मे मुखर होते थे और सरकार का ध्यान भी उस ओर आकृष्ट होता था।

इप्टा के सम्बन्ध मे हमे एक बात बहुत अच्छी तरह समझनी और ध्यान मे रखनी चाहिए कि यह कम्युनिस्ट पार्टी का सास्कृतिक विभाग था, इसका मूल उद्देश्य पार्टी के सिद्धान्तो का प्रचार करना था, पार्टी की गतिविधियो से आम जनता को परिचित कराना था। स्वतन्त्र रूप से कुछ भी सोचने या करने की छूट इप्टा के कलाकारो को नही थी, उनकी रीति और नीति पार्टी के हाई कमाण्ड द्वारा निर्धारित होती थी। यद्यपि इप्टा से जुडे अनेक व्यक्ति कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य—कार्ड होल्डर—नही थे लेकिन वे पार्टी के सिद्धान्तो के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। फलस्वरूप ऊपर के स्तर पर मतभेद या वैमनस्य होता तो उसका असर इप्टा की गतिविधियो पर पडता, पार्टी से जुडे प्रगतिशील लेखक सघ की गतिविधियो पर पडता। पी० सी० जोशी और बी० टी० रणदिवे मे मतविरोध हुआ तो पार्टी मे दो दल हो गये। बाद मे भी बराबर मतविरोध होते रहे, पार्टी विभाजित होती रही—एक बार, दो बार। इसका नतीजा यह हुआ कि पहले इप्टा के कलाकार असमजस मे रहे कि क्या करे, किसका साथ दे फिर धीरे-धीरे वे शिथिल पडने लगे और सन् 1948 तक आते-आते आदोलन समाप्त-सा हो गया। जिस जोश, आत्म-विश्वास और समर्थन के साथ इप्टा के कलाकार सामने आये थे, जिस निष्ठा के साथ उन्होने कम्युनिस्ट पार्टी के सिद्धान्तो के अनुसार देशवासियो को जागरित करने का काम शुरू किया था वह सारा आदोलन देखते-देखते दस-पद्रह वर्षो की छोटी अवधि मे ही (1943-44 से 1956) समाप्त हो गया, कलाकारो और सहयोगियो ने बडी निराशा और हताशा का अनुभव किया। महीनो-महीनो आधा पेट खाकर, घर-गृहस्थी की परवाह किये बिना दिन-दिनभर रिहर्सल करने और शाम को प्रदर्शन करनेवाले कलाकारो ने जब अपने कर्णधारो को मतविरोध मे उलझते देखा और उनसे एक निश्चित दिशा-निर्देश पाने के बदले परस्पर विरोधी आदेश और इगित पाने शुरू किये तब उन्होने बडी निराशा का अनुभव किया, उनके विश्वासो की सुदृढ नीव धीरे-धीरे हिलने और फिर ढहने लगी। वैसे उन दिनो की कष्टपूर्ण फिर भी सुखद स्मृतियो मे आज भी इप्टा का हर पुराना साथी खो जाता है, विभोर होकर उन दिनो की तीव्र अनुभूतियो और सघर्ष का बयान करता है फिर वह चाहे नेमिचद्र जैन हो या रेखा जैन, चाहे दीना गाधी (पाठक) हो या हबीब तनवीर और चाहे सजल राय चौधरी हो या रेवा राय चौधरी। इस सम्बन्ध मे हबीब तनवीर ने बडे विस्तार से बाते की। उनके ही शब्दो मे—

"मै पाचवे दशक मे इप्टा से जुडा था। हमारे देश के आदोलन मे इसके पहले ही एक बात बहुत साफ हो गयी थी कि हमारा दुश्मन ब्रिटिश इम्पीरियलिजम है और उसके खिलाफ अलग-अलग दिशाओ, अलग-अलग दृष्टिकोणवाली पार्टियो के लोग खडे हो गये क्योकि सबका मकसद एक था —ब्रिटिश इम्पीरियलजम को निकालना। अब चाहे यह निकालना गाधीजी के नामवाले करे या कोई और पर निकालना तै था। इस बारे मे इप्टा का उद्देश्य बहुत साफ था लेकिन आजादी मिलने के बाद मन मे यह सवाल उठने लगा कि क्या सचमुच आजादी मिल गयी ? क्या सचमुच ब्रिटिश इम्पीरियलिजम के शिकजो से हम आजाद हो सके है ? द्वितीय विश्वयुद्ध तो समाप्त हो चुका था लेकिन कम्युनिस्ट अर्थ मे विश्व-शान्ति की स्थापना नही हुई थी। उनकी शाति की व्याख्या अलग थी। उसके अनुसार शाति वही है जिसमे मजदूरो का आदोलन पनप सके। उनकी मान्यता थी कि गिल्डर्स वार और कैपिटलिस्ट वार आदि के विरूद्ध ऐसा आदोलन छेडना चाहिए जो सघर्ष के बावजूद शाति की ओर ले जाये। मार्क्सिस्ट विचारधारा के अनुसार शाति मे मजदूरो का सघर्ष तो होगा, लेकिन युद्ध नही होगा। खैर, ये बाते होती रही, आदोलन चलते रहे लेकिन धीरे धीरे यह यकीन किया जाने लगा कि आजादी मिल गयी है, अग्रेज चले भी गये है पर दुश्मन अभी भी बना है और बना है घर के अदर। अगली लडाई उससे लडनी है। लेकिन वह दुश्मन कौन है यह पता लगाना बडा मुश्किल था। पहले दुश्मन ब्रिटिश इम्पीरियलिजम की शिनाख्त जितनी आसानी से हो गयी थी उतनी आसानी से इस घर के दुश्मन की नही हो पा रही थी। यही से राय मुखतलिफ होनी शुरू हुई और पार्टी धीरे-धीरे टुकडो-टुकडो मे बटने लगी। मेरी नजर मे सन् 1948 के आसपास का समय इप्टा के लिए बडा सकटपूर्ण (crucial) पीरियड था। आजादी मिलने के बाद ही पार्टी के नेता रणदिवे और पी० सी० जोशी की राय मुखतलिफ होने लगी, पार्टी मे बडा अलगाव आया। इसका सीधा असर पडा इप्टा पर। इस दृष्टि से सन् 1948 मे इलाहाबाद मे हुई पार्टी की कान्फरेस का बडा महत्व है। सारे देश के नेता जुटे थे लेकिन आगे आनेवाले सालो मे पार्टी का क्या रवैया हो इस बारे मे वे एकमत नही हो सके। चुनाचे पार्टी बट गयी और इप्टा के काम पर इसका सीधा असर पडा। इप्टा की कोई अपनी पॉलिसी तो थी नही, पार्टी जो करने को कहती थी, वह करता था। मजा देखिए कि उस जमाने मे कैसे-कैसे लोग इप्टा से जुडे थे—उदयशकर, रविशकर, नरेन्द्र शर्मा, शभु मित्र,

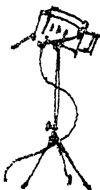
शचिन शकर सभी तो तहेदिल से इप्टा के मूवमेट के साथ जुडे थे, अपने को पार्टो का बिना तमगावाला सिपाही मानते थे लेकिन जब पार्टी मे टूटन आयी तो इनकी समझ मे ही नही आया कि ये क्या करे क्योकि इप्टा तो पार्टी का सास्कृतिक विभाग (कलचरल स्कवाड) था, स्वतत्र रूप से उसकी कोई पॉलिसी थी नही। लोग निराश हो गये, रास्ता दिखलानेवाले के अभाव मे धीरे-धीरे रास्ता छोडकर अलग हो गये। सन् 1948 की इलाहाबादवाली कान्फरेस इप्टा की मौत थी जिसका जनाजा निकला 1956 मे। कई बार सोचकर हैरत होती है कि क्या काम किया था इप्टा ने और कैसे खत्म हो गया चुटकियो मे। इप्टा के इतिहास मे उदयशकर के अल्मोडा के स्कूल का अपना महत्व है। देखिए न, बगाल मे इतना बडा फैमीन हुआ, इसको लेकर आदोलन-सा चलाया इप्टा ने। स्पिरिट ऑफ इडिया' नाम का प्रोग्राम तैयार किया गया, उसे लेकर सेट्रल स्क्वाड मुल्क के कोने-कोने मे गया, लाखो रुपये जमा किये और यहा बगाल मे मदद की। दूसरा प्रोग्राम तैयार किया गया 'इडिया इमौरटल'। कितनी जबरदस्त शक्ति थी मच की जिसने पूरे मुल्क को जोड दिया था लेकिन उस शक्ति का और इस्तेमाल नही किया गया, जितनी तेजी से यह सास्कृतिक आदोलन उठा था उतनी ही तेजी से बैठ भी गया। किसी को कुछ समझ मे ही नही आया कि क्या किया जाय।

'करीब आठ साल बाद निरजन सेन ने फिर से एक बार इप्टा को जिलाने की कोशिश की लेकिन वह कोशिश नाकामयाब रही। सच पूछिए तो सन् 1956 की कान्फरेस के बाद इप्टा का जनाजा ही निकल गया। निरजन सेन ने दिल्ली मे बहुत बडी कन्फरेस की, यह उनका ही दमखम था कि हजारो लोगो को जुटा लिया, कलचरल प्रोग्राम भी किया लेकिन इप्टा के काम को आगे बढाने का कोई रास्ता न निकाला जा सका और इप्टा खत्म हो गया। मै तो उस समय मुल्क मे था नही, इग्लैड मे था पर सुना खूब जश्न मनाया गया, बहुत से पुराने साथी मिले, एक साथ बैठे, उन्होने बातचीत की, पुरानी यादे ताजा की और गा-बजाकर बिदा हो गये—ऐसा जैसे मरने के बाद बडा जश्न मनाया गया हो। अभी कुछ दिनो पहले हेमाग विश्वास से मुलाकात हुई। ये लोग उस जमाने मे कलकत्ता से शैडो प्ले लेकर बम्बई आये थे। उन दिनो बराबर आना-जाना हुआ करता था। हम बम्बई से कलकत्ता आते थे, कलकत्तावाले बम्बई आते थे। हेमाग बाबू को मेरी याद नही थी, कैसे होती। वे तब चोटी पर

थे और मै एक मामूली आर्टिस्ट लेकिन याद दिलाने पर उन्हे बहुत सी बाते याद आयी और हम दोनो काफी देर तक पुरानी यादो मे—nostalgia मे खोये रहे। असल मे उस जमाने मे कलकत्ता हमारा लीडर था। हमलोग कलकत्ता की चीजो को देखकर बहुत प्रभावित होते थे। लोक शैलियो की बहुत चीजे, धुने वगैरह का कलकत्तावाले खूब इस्तेमाल करते थे, वे अपनी जगह लाजवाब होती थी, हम पर उनका असर भी पडता था पर सब कुछ बहुत जल्दी खत्म हो गया। आर्ट के लेवेल पर मुल्क के अलग-अलग हिस्सो के आर्टिस्टो को जोडने का और मुल्क के अलग-अलग हिस्से मे रहनेवाले लोगो को दूसरे हिस्से की कला से वाकिफ होने का जो मौका मिलता था, वह खत्म हो गया, हम सब अपने-अपने दडबो मे लौट गये। हिदोस्तान के आर्ट जगत मे घटा इतना बडा वाकया, इतना बडा आदोलन खत्म हो गया, तवारीख का एक हिस्सा बनकर रह गया।"

इप्टा के साथ काम करने के दौरान हबीब तनवीर का नुक्कड नाटको से जो लगाव हुआ वह बराबर बना रहा। उनकी मान्यता है कि नाटक कई तरह के हो सकते है और होते है। अलग-अलग तरह के नाटको का अपना-अपना महत्व होता है। एक जगह प्रचार नाटको की होती है बशर्ते कि सही मसले को उठाया जाय, सही लोगो के द्वारा उठाया जाय और उसे सही ढग से पेश किया जाय। वे इस बात को बहुत अच्छा नही मानते कि समस्या किसी की हो और उसके लिए बेचैन कोई और हो। उनका कहना है कि यह मानना कि अपने से परे दूसरे वर्ग की समस्या मै बेहतर समझता हूँ और समझता ही नही उसका समाधान भी मेरे पास है अपने आप मे बडा भारी ढोग और फरेब है। इस तरह के थियेटर से उन्हे नफरत है। हर इलाके की अपनी समस्या होती है और उसे उस इलाके के लोग ही बेहतर समझते है। हा, यदि आप उनके साथ घुलमिल जाये और ऐसा करके उनकी समस्या को समझने की कोशिश करे तो शायद स्थानीय लोगो के साथ उनकी समस्या का कोई हल भी ढूढ सके लेकिन बाहर रहकर आप किसी दूसर वर्ग की अदरूनी समस्या तक नही पहुच सकते। इलाकाई चीज का हल इलाकेवालो के पास ही हो सकता है। बीच-बीच मे हबीब बराबर प्रचारात्मक नाटक करते रहते है, फैमिली प्लानिंग वगैरह पर कर चुके है पर उनकी कोशिश यही

रहती है कि ऐसे नाटको मे भी नाटकीय सौदर्य हो, सब कुछ दर्शको के सामने परोस न दिया गया हो, दर्शक स्वय उसे उपलब्ध करे। दर्शको के प्रति उनके मन मे इज्जत है और वे मानते है कि दर्शक बुद्धिमान होता है, अपनी बाते खूब समझता है और अपनी समस्याओ का समाधान भी ढूढ सकता है।



बम्बई मे इप्टा की गतिविधिया ढीली पड़ीं, फिल्मो ने हबीब साहब को विशेष बाधा नही सो वे चले आये दिल्ली। दिल्ली मे एक महिला थी एलिजाबेथ गौबा। हबीब उनके साथ ही शुरू मे रहे। वे एक नर्सरी स्कूल चलाती थी 'शिव निकेतन'। हबीब भी उस स्कूल के काम के साथ जुड गये। कभी बच्चो को कहानिया सुनाते, कभी उनसे नाटक करवाते। उनके लिए ड्रेस वगैरह तैयार करने मे भी मिसेज गौबा की मदद करते थे। राजीव गाधी और सजय गाधी भी उस स्कूल मे आया करते थे। नेहरू जी वगैरह बच्चो का नाटक देखने आये थे, बहुत अभिभूत हो गये थे देखकर। लेकिन इस तरह केवल बच्चो के साथ जुडकर हबीब सन्तुष्ट नही थे। दिल्ली मे उन दिनो बेगम कुदसिया जैदी सक्रिय थी। वे एक नाटक का दल सगठित करना चाहती थी, हबीब को बुला रही थी बराबर। सन् 1954 मे ये बम्बई छोडकर दिल्ली चले आये और बेगम के साथ मिलकर स्थापना की 'हिन्दुस्तानी थियेटर' की। कुछ और लोग भी साथ थे लेकिन प्रेरणा का मूल स्रोत थी बेगम जैदी। दिल्ली मे हबीब साहब के दोस्त रहते थे अथर परवेज, उन्ही के साथ ठहरे। वे भी कम्युनिस्ट पार्टी से जुडे थे और उसके आदोलन के दौरान उन्होने अपना उसमान नाम बदलकर अथर रख लिया था। बाद मे साहित्य मे वही नाम चला। वे खुद शायर थे, शायरी के शौकीन थे। वे उन दिनो यौमे नजीर मनाने की तैयारी कर रहे थे सो नजीर पर कुछ करने के लिए साथ जोड लिया हबीब को। हबीब साहब तब तक मुशायरा जीतने वाले शायर बन चुके थे। इसके पहले प्रेमचद की कहानी 'शतरज के खिलाडी' पर शतरज के मोहरे नाटक बना चुके थे। अथर साहब के कहने पर नजीर के ऊपर पद्रह-बीस मिनट का एक फीचर लिखने मे लग गये। इस फीचर मे नजीर की उन रचनाओ को लिया था जो बहुत सरल जुबान मे कही गयी थी, जिन्हे घरो मे, बाजारो मे, सडको पर लोग कहा, सुना करते थे। यह फीचर जामा मिलिया मे होने वाला था, वहा रिहर्सल होते थे खुले मे। जामा मिलिया के विद्यार्थी और अध्यापक तो देखते ही थे रिहर्सल, राह-चलते लोग भी रुक जाते थे। हबीब ने उनमे से कुछ को नाटक मे जोड लिया, एक बकरीवाले को मच पर बुला लिया, दो-चार लहगेवालिया

झमाझम स्टेज पर आकर उन गीतो-शेरो के गाने मे साथ हो ली। यह हुआ था दिल्ली के पास ओखला स्थित जामिया मिलिया मे सन् 1954 मे। बाद मे उसे दिल्ली मे लाकर दिखलाया, सत्तर आदमियो का दल ओखला से दिल्ली आया पहली बार। लोगो ने देखा, सराहा। सब लोग जुटकर अलीगढ गये, वहा भी खब मशहूर हुआ। इसे बेगम जैदी ने देखा, बेगम अनीस क़िदवई ने देखा। उन लोगो को यह बहुत ही अच्छा लगा। फिर जामिया मिलिया के साथ हबीब ने मिलकर बनाया 'ओखला थियेटर' और उसके तत्वावधान मे इसे किया। लेकिन वह थियेटर पनपा नही तो बेगम जैदी और हबीब ने मिलकर हिन्दुस्तानी थियेटर कायम किया और इसमे पद्रह-बीस मिनट के फीचर से बढाकर लिखा गया दो घटे का नाटक 'आगरा बाजार' खेला गया। अट्ठारहवी सदी के सुप्रसिद्ध लेखक नजीर अकबराबादी की नज्मो पर मुख्य रूप से आधारित इस नाटक मे नजीर के युग का रोचक चित्रण प्राप्त होता है। बाजार मे बडी छोटी दूकान लगाये बैठे लोग, खोमचे लगाये फेरीवाले, मदारी, कोठे पर बैठी बाईजी, एक किताब की दूकान पर जुटनेवाला शायरो का दल और खरीद-फरोख्त के लिए आनेवाले आम-आदमियो की बातचीत और रवैयो से आगरा का बडा सजीव चित्र खीचा गया और उस चित्र मे प्राण भरा नजीर की नज्मो ने। नाटक के लेखक-निर्देशक हबीब तनवीर थे। नाटक खूब पसद किया गया। नयी चीज थी। आगरा बाजार नाटक था भी और नही भी। छोटे-छोटे किस्सो और घटनाओ को जोडकर नाटक बनाया गया था। कही यह प्रयत्न नाटकीय बन पाया था कही नही। कही नजीर अकबराबादी की कविता नाटक की गति को आगे बढाती थी तो कही उसकी गहनता गति को अवरुद्ध करती थी विशेषकर उत्तरार्द्ध मे लेकिन सब मिलाकर प्रयत्न सराहनीय था और रसज्ञ दर्शको ने सराहा भी। बाद मे लबे अतरालो पर सन् 1970, 1977 और 1989 मे इसे हबीब ने फिर प्रस्तुत किया। 'आगरा बाजार' की इन प्रस्तुतियो की अपनी- अपनी विशेषताए है। सन् 1970 की प्रस्तुति की गयी थी हबीब को अकादमी पुरस्कार मिलने के अवसर पर। इसमे हबीब तनवीर ने पहली बार छत्तीसगढी कलाकारो को अभिनेता के रूप मे सम्मिलित किया और इस प्रस्तुति से ही 'नया थियेटर' एक व्यावसायिक दल के रूप मे काम करने लगा। सन् 1977 की प्रस्तुति मे कुछ उन कलाकारो ने अभिनय किया जो कालातर मे हिन्दी रगमच पर पर्याप्त प्रसिद्ध हुए यथा सविता बजाज, रणजीत कपूर, एस० बी० जुसालकर, देवेन्द्रराज अकुर, रघुवीर यादव आदि। सन् 1989 मे

संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित 'नेहरू शताब्दी स्मारक समारोह' मे मचित करने के लिए इसे विशेष रूप से पुन तैयार किया गया तो फिर से देशभर मे लोगो ने बडे उत्साह से इसे देखा, सराहा ।

इस प्रसग मे इतना उल्लेख करना आवश्यक है कि इप्टा के प्रचारात्मक नाटको के दायरे मे बम्बई मे छ.-आठ वर्षो से बधे हबीब तनवीर 'आगरा बाजार, मे अपनी धरती के अधिक निकट आ गये थे—अपनी जुबान और हिन्दी भाषा-भाषी लोगो की बडी सख्या ने उन्हे खुला वातावरण प्रदान किया और निर्देशक हबीब तनवीर की भावी प्रसिद्धि और ख्याति की नीव पड गयी। नाट्यप्रेमी लोगो की नजर इस निर्देशक की ओर लग गयी। लेकिन एक घटना ने हबीब को भारतीय नाट्य जगत से कुछ समय के लिए दूर ही रखा।

इसी दौरान हबीब को इग्लेंड जाकर नाट्य प्रशिक्षण प्राप्त करने का अवसर मिला। वे स्वय इस बारे मे बहुत उत्सुक नही थे लेकिन आसपास के लोगो का आग्रह था कि अवसर मिले तो एक बार इग्लेंड जाकर प्रशिक्षण प्राप्त कर लेना चाहिए, वह हर तरह से उपयोगी होगा। दिल्ली मे बेगम जैदी इन्हे उकसी रही थी बाहर जाने को। अलकाजी ने बम्बई मे एक प्रशिक्षण स्कूल खोल रखा था, उनकी इच्छा थी कि हबीब वहा शिक्षार्थी के रूप मे आवे। खैर, इस बीच ब्रिटिश काउसिल ने स्कालरशिप दे दी इग्लेंड जाकर प्रशिक्षत होने के लिए। अब सामने समस्या आयी कि जाने का खर्च कहा से आये। उन दिनो जाकिर हुसैन साहब, जो बाद मे भारत के राष्ट्रपति हुए, जामिया मिलिया मे थे। उन्होने जाने के खर्च की व्यवस्था करवा दी और सन् 1954 मे हबीब लडन गये रायल एकेडमी आफ ड्रामेटिक आर्ट्स मे। दो साल का ऐक्टिग का कोर्स था, लेकिन एक साल के बाद ही हबीब को लगा कि अब यहा सीखने को कुछ नही रहा। एक तो यो ही तीस-बत्तीस की उम्र हो चुकी थी, आठ-दस साल का अनुभव था दूसरे वहा भाषा और उच्चारण को लेकर जो काम करवाया जा रहा था वह इनके उपयोग मे बिलकुल नही आनेवाला था। अब तक हबीब के सामने कुछेक बाते बहुत साफ हो चुकी थी—थियेटर इन्हे हिन्दी मे करना है अग्रेजी मे नही अत अग्रेजी भाषा का ज्ञान या उसके सही उच्चारण पर काम उनके लिए व्यर्थ है। इतना ही नही हर भाषा की अपनी प्रकृति होती है, उसका सही उच्चारण करने की एक विशेष प्रक्रिया होती है जिसका व्यक्ति बचपन से ही अभ्यस्त

होता है, प्रयत्न के द्वारा अन्य भाषा का अन्य ढंग से उच्चारण करने का परिणाम बुरा भी हो सकता है। अग्रेजी स्कूल मे पढे-लिखे बच्चो के भारतीय भाषाओ मे बोलने पर यह अतर स्पष्ट होता है खासकर तब जब कि उनका अपनी भाषा मे बोलने का अभ्यास बहुत न हो। हबीब को लगा कि 'वी' और 'डब्ल्यू' मे उच्चरित 'व' ध्वनि के सूक्ष्म अतर का ज्ञान उनके हिन्दी थियेटर के काम मे कोई लाभ नही पहुचाने वाला है, शायद उससे नुकसान ही हो अत भला इसी मे है कि इससे छुट्टी पाया जाय।

हबीब ने जब रायल एकेडेमी के प्रिंसिपल से यह कहा कि मुझे लगता है कि मै लडन से जो पा सकता था, ले सकता था वह मै ले चुका, अब और कुछ लेने-पाने को नही तो वे आग बबूला हो गये। एक विदेशी छात्र और वह भी भारतीय, की यह मजाल कि दो साल का कोर्स बीच मे यह कहकर छोडना चाहता है कि मुझे अब और कुछ पाने को नही रहा, उनकी कल्पना के बाहर था। उन्होने साफ मना कर दिया—आप ऐसा नही कर सकते, आपको स्कालरशिप मिली है, आप इस तरह बीच मे नही जा सकते। भारतीय दूतावास के माध्यम से इन्हे स्कालरशिप के रुपये मिलते थे। वे भी छोडने के पक्ष मे नही थे। तब हबीब ब्रिटिश काउसिल गये। वहा उन्होने अपनी समस्या बतलायी—अग्रेजी के उच्चारण का अभ्यास मेरे लिए उपयोगी नही, वरन् इससे नुकसान हो सकता है, जबडो को ऐसा अभ्यास हो जायेगा कि मै फिर हिन्दी ठीक से बोल ही नही पाऊ गा। उन्होने यह भी कहा कि मै निर्देशन की ट्रेनिग लेना चाहता हूँ, स्टेज क्राफ्ट् सीखना चाहता हूँ, मुखौटे बनाना और पेपरमैशी का काम सीखना चाहता हूँ, बढईगीरी और लाइट का काम सीखना चाहता हूँ। अग्रेजी भाषा का मेरे लिए कोई उपयोग नही। वहा एक महिला थी, उन्हे हबीब की बात समझ मे आयी और उन्होने रायल एकेडेमी मे बात की। तबतक वे पुराने प्रिंसिपल चले गये थे। उनके स्थान पर एक नये कम-उम्र सज्जन आये थे जान फरनाड। उनकी समझ मे भी हबीब की बात आयी। उन्होने हबीब का काम देखा, ऐक्टिग देखा और अच्छा सर्टिफिकेट देकर उन्हे छोड दिया। इस प्रसग मे हबीब तनवीर ने बहुत स्पष्ट शब्दो मे कहा—

"उस वक्त तक यह बात मेरे जेहन मे बहुत साफ हो गयी थी कि भाषा, कलचर और अभिनय वगैरह का आपस मे बडा गहरा रिश्ता है। हर

भाषा की एक अपनी लय (rhythm) होती है और उसका असर उस भाषा के बोलनेवाले के मूवमेंट पर पड़ता है। अलग-अलग लोगों के उठने-बैठने का तरीका अलग होता है, बात करने, खाने-पीने की आदतें और तरीके फर्क होते है। अभिनय करने चलो तो सब जानना जरूरी होता है। भारत और ब्रिटेन का कलचर अलग है, उनके यहाँ छुरी-काटे से खाना अच्छा मानते है, हमारे यहाँ हाथ से। उनके यहाँ बहुत से काम मे कागज इस्तेमाल करते है हमारे यहाँ पानी। ये सारी बाते एक दूसरे से जुडी है। हमारे मुल्क मे ही अलग-अलग हिस्सो मे हाँ-ना कहने के तरीके अलग-अलग है। मुझे लगा कि दिल्ली मे एक मलयाली ऐक्टर से हिन्दी मे अभिनय करवा के भी हम कुछ-कुछ वैसी ही भूल करते है जैसी लदन मे मेरे साथ हो रही थी।"

खैर, बहरहाल सब राजी हो गये। एकेडेमी मे निर्देशन का कोर्स था नही सो हबीब एक साल के लिए ब्रिस्टल ओल्ड विक थियेटर स्कूल चले गये। वहाँ से लौटकर ब्रिटिश ड्रामा लीग मे तीन महीने का नाटक पढाने का कोर्स कर लिया और इस तरह दो साल की स्कालरशिप का भरपूर लाभ उठाया इन्होने—इग्लैंड की तीन श्रेष्ठ सस्थाओ मे प्रशिक्षण प्राप्त कर लिया। लेकिन तुरत भारत लौटने की इच्छा नही थी, कुछ और घूमना चाहते थे, करना चाहते थे, देखना चाहते थे। साधन तो थे नही लेकिन इच्छा थी इसलिए रास्ता निकालते रहे। कभी हिच-हाइकिग की (रास्ते मे गाडी मे जाते लोगो को रोककर उनके साथ सफर करना), कभी अगूर तोडे, कभी रेडियो मे काम किया, कभी हॉल मे लोगो को बैठाने का। इतना ही नही कभी नाइट क्लब मे छत्तीसगढी गाने गाये, कभी माइम किया और इस तरह गुजारा करते रहे और योरोप मे जगह-जगह घूमते रहे। इस सारे घूमने के दौरान हबीब 'मिट्टी की गाडी' का प्रदर्शन योरोप मे कही करने का सपना साथ लिये रहे। हर मुल्क मे उन्होने इसे करने के लिए दौडभाग की पर किसी न किसी बात पर काम अटक गया। बेलजियम मे बात करीब-करीब तै हो गयी थी पर किसी अडचन के कारण प्रोडक्शन नही हो पाया। जर्मनी मे होते-होते काम अटक गया। एक टी० वी० प्रोडक्शन होकर रह गया। वारसा मे सब तै हो गया, अनुवाद हो गया, क्रुस्टीन स्कुस्कुशानका नामकी महिला ने किया। सब बात तै हो गयी लेकिन जब तक हबीब नाटक की तैयारी के लिए पहुचे तब तक क्रुस्टीन और निकोलाइकिस, जिसने अनुवाद मे

सहायता की थी—मे झगडा हो गया। वह ब्लैकमेल करना चाहता था। प्रस्तुतकर्त्ता रॉस्टाक ने ऐसी स्थिति मे प्रस्ताव स्थगित कर दिया मगर हा, हबीब को साल भर के लिए बुक कर लिया कि एक बार जाकर बेगम जैदी के साथ नाटक का काम शुरू करके वे साल भर के लिए वारसा आ जाये और 'मिट्टी की गाडी' को प्रस्तुत करे। बात आगे के लिए टल गयी, आगे ही नही सदा के लिए टल गयी।

यो घूमते-घूमते करीब डेढ साल निकल गये। उन दिनो ख्वाजा अहमद अब्बास मास्को मे एक फिल्म बना रहे थे 'परदेसी'। उसमे नरगिस थी और एक रूसी ऐक्टर थे। उन्हे हबीब की तलाश थी। उन्होने दूतावास से पता लगाकर इनके पास सूचना भेजी साथ ही मास्को आने के टिकट के पैसे। इस बीच हबीब ने काफी पैसे कमा लिये थे। कैमरा वगैरह खरीदा, लौटने का टिकट लिया और पहुच गये मास्को। अपने उन डेढ वर्षों के अनुभव की चर्चा करते हुए हबीब साहब ने बतलाया—

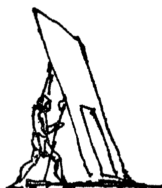
"ये पीरियड था उथल-पुथल का, कलचरल प्रभाव का। मै यह भी देख रहा था कि पश्चिम मे थियेटर के अदर एक नयी लहर शुरू हो चुकी थी। पीटर ब्रुक 'टाइट्स एड्रोनिकस' कर चुके थे, ग्रैहम ग्रीन का 'पावर एड ग्लोरी' भी हो चुका था। जबरदस्त प्रोडक्शन था, मास्को तक गया, तहलका मचा दिया था लेकिन हम इधर आये और पीटर ब्रुक ने उधर एक्सपेरिमेट करना शुरू किया। अलजीरिया गये, ईरान गये। इधर-उधर भटकने लगे। असल मे उस समय योरोप मशरक (पूरब) की तरफ देख रहा था इस उम्मीद से कि शायद इस तरफ से कुछ रास्ता दिखे। चीन, जापान, इडोनेशिया ही नही अफ्रीका की ओर भी। शायद इस लिए कि इन मुल्को के पास स्पिरिचुअल रिसोर्स (आध्यात्मिक सम्पन्नता) ज्यादा है, हमारा रीजनल (क्षेत्रीय) थियेटर, ट्रेडिशनल (पारम्परिक) थियेटर और देहातो का थियेटर ज्यादा प्राणवान है। तो इस जमाने से उस समय योरोप गुजर रहा था। इन डेढ वर्षो की भटकन मे मैने यह समझा कि ठेठ हिन्दुस्तानी तरीके से थियेटर करने मे ही हमारी आइडेनटिटी (अस्मिता) हो सकती है और कोई जगह बन सकती है, थियेटर को मीनिंगफुल (सार्थक) बनाया जा सकता है, नकल करना निहायत गलत है।"

यदि सन् 1954 मे 'आगरा बाजार' की प्रस्तुति ने हबीब के निर्देशक होने का इगित दिया था तो तीन साल के बाद योरोप से लौटने के समय उनकी उक्त धारणा ने उनके एक सशक्त व्यक्तित्व का । आम तौर पर पश्चिम मे कुछ समय रहने और वहाँ प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति की आखो पर एक ऐसा चश्मा चढ जाता है कि वह सब कुछ विदेशी नजर से ही देखता है । हबीब की यह खासियत थी कि उन्होने पश्चिमी दृष्टि और तौर-तरीको को बहुत अच्छी तरह देखा, समझा, जो उपयोगी लगा उसे ग्रहण किया लेकिन उसके गुलाम नही बने । अपने थियेटर के लिए क्या उपयोगी हो सकता है इस बारे मे वे बहुत स्पष्ट थे । और स्पष्ट थे इस बारे मे कि मुझे अपने देश लौटना है, अपनी भाषा मे थियेटर करना है, अपने लोगो के सहयोग से अपने लोगो के लिए थियेटर करना है ।



साढे तीन साल के विदेश प्रवास के बाद सन् 1958 मे हबीब साहब स्वदेश लौटे। जाने से पहले हिन्दुस्तानी थियेटर की स्थापना हो चुकी थी और बेगम जैदी ने वचन दे रखा था कि दो साल बाद (ट्रेनिग काल इतना ही था) जब हबीब ट्रेनिग पूरी करके लौटेगे तब तक वे लाख डेढ लाख रुपये जमा कर लेगी और सस्कृत नाटको के अनुवाद भी करा रखेगी। हबीब ने कुछ सस्कृत नाटक पढे थे और उनसे बहुत प्रभावित हुए थे। सस्कृत नाटको का अनुवाद उन्ही के लिए होनेवाला था। बेगम जैदी बकौल हबीब तनवीर के कमाल की शख्स थी, जो कहती थी करके रहती थी। उन्होने दो सालो मे रुपये भी जमा कर लिये और कहे मुताबिक बारह देशी-विदेशी नाटको के अनुवाद भी करा लिये जिनमे शकुतला, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, उत्तररामचरित आदि भी थे और इब्सन के नाटक भी। दो साल पूरा होते न होते उन्होने समाचार देना शुरू किया कि सब तुम्हारे कहे मुताबिक तैयार है, आकर काम शुरू करो पर हबीब के लौटने का ठिकाना नही था। तब उन्होने नोटिस दिया कि यदि तुम नही आते तो हम काम शुरू कर देगे। हबीब तब भी लौटने के मूड मे नही थे। योरोप का थियेटर, वहाँ का काम उन्हे पकडे था, उन्हे अच्छा लग रहा था वहाँ। जब हबीब पर धमकी का भी कोई असर न हुआ तो बेगम जैदी ने किसी और निर्देशक की तलाश शुरू की और सौभाग्य से उन्हे बम्बई मे मिली मोनिका मिश्र। वे दिल्ली आकर काम करने को राजी हो गयी। मोनिका हिन्दुस्तानी थियेटर की पहली पेशेवर निर्देशक थी। उन्होने आकर ऐक्टरो की परीक्षा वगैरह ली और शकुतला की तैयारी शुरू कर दी। सब ऐक्टरो को तनख्वाह देकर रखा गया था, बेगम जैदी का उद्देश्य एक पेशेवर दल सगठित करने का था। शकुतला नाटक मचस्थ हुआ, यह बात सन् 1957 की है। हबीब लौटे 1958 मे। सब कुछ तैयार था उनके लिए। उसी साल सन् 1958 मे उन्होने मृच्छकटिक किया और उसके बाद ही बेगम जैदी से मतभेद शुरू हो गया। बकौल हबीब के बेगम जैदी बडी पावरफुल परसनैलिटी (प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व) वाली महिला थी। बहुत डायनमिक थी (गतिशील, सक्रिय) लेकिन एक्सट्रीम्स वाली (या इधर या उधर) थी। वे जो चाहे, वही होना लाजमी था।

मृच्छकटिक के बाद वे चाहती थी कि मुद्राराक्षस हो। हबीब इसके लिए तैयार नही थे। वे अनुभव कर रहे थे कि ऐसे जटिल राजनीतिक नाटक को करने की उनकी पूरी तैयारी नही थी—न वे स्वय तैयार थे और न ही उनके पास ऐसे कलाकार थे जो उस नाटक मे फिट करते। उन्होने तीन बार नाटक पढा। उन्हे लगा कि जिस नाटक की बात समझने के लिए उसे तीन बार पढना पडता है उसे एक बार मे दर्शक तक पहुचाना आसान न होगा। वे मुद्राराक्षस करने के लिए कम से कम पाच साल प्रतीक्षा करना चाहते थे। बेगम जैदी इसके लिए राजी नही थी चुनाचे साल भर के अदर-अदर हबीब हिन्दुस्तानी थियेटर से अलग हो गये। उनका कहना है कि बेगम जैदी का व्यक्तित्व इतना पावरफुल था कि उनके साथ किसी का भी टिक पाना असभव था, हर साल नया व्यक्ति जुडा और साल बीतते न बीतते अलग हो गया। मोनिका मिश्र, हबीब तनवीर, नरेन्द्र शर्मा, सथ्यु सबका एक ही हश्र हुआ। सन् 1960 मे बेगम जैदी की मृत्यु हो गयी। सच पूछिए तो हिन्दुस्तानी थियेटर की मौत उनसे पहले, उनके जीवनकाल मे ही हो चुकी थी। उनके बाद उनकी बेटी शमा जैदी और सथ्यु (जो बाद मे दामाद हुए) ने चलाने की कोशिश की लेकिन वे स्वय बम्बई जा बसे और इस तरह काफी तैयारी और जोशखरोश के साथ एक पेशेवर नाट्यदल के सूत्रपात का प्रयत्न अपनी बाल्यावस्था मे ही दफन हो गया।



बेगम जैदी से अलग होकर सन् 1959 मे हबीब ने नया थियेटर की स्थापना की। लेकिन उसकी बात करने से पहले हम 'मिट्टी की गाडी' (मृच्छकटिक) की प्रस्तुति के बारे मे विस्तार से कुछ चर्चा करे और वह भी स्वय हबीब के लफ्जो मे—

''सन् 1958 मे मै छ छत्तीसगढी कलाकारो को ले गया था दिल्ली, पहली बार। योरोप से लौटने के बाद रायपुर गया मा-बहनो से मिलने तो वहाँ देखा 'नाचा'। नाचा कहते है वहाँ के सेक्युलर (स्थानीय लौकिक) थियेटर को। देखकर मै मुग्ध रह गया, रात भर देखता रहा। मदनलाल, ठाकुरराम, बाबूदास, कोलुआ वगैरह बडे-बडे ऐक्टर स्टेज पर थे। मै उनसे बहुत प्रभावित हुआ। उनसे बात की कि दिल्ली चलोगे ? वे राजी हो गये और उनमे से छ को लेकर मै दिल्ली पहुच गया 'मिट्टी की गाडी' मे अभिनय करवाने के लिए। उन्हे देखकर बेगम जैदी बडी असतुष्ट —'यह तुम किन्हे पकड लाये, काली-काली सूरते, जगली किस्म के लोग। नाटक मे हीरो-हिरोइन के खूबसूरत चेहरे होने चाहिए सो तुम न जाने किन लगडे-लूलो को पकड लाये हो। ज़ाकिर हुसैन साहब आ रहे है, क्या कहेगे भला इन्हे देखकर।' खैर, मैने इन बातो को खास तवज्जो नही दिया और उन कलाकारो से मिट्टी की गाडी' मे ऐक्टिग करवाया। सन् 1958 का प्रोडक्शन हिन्दी मे किया था, छत्तीसगढी भाषा की ओर तब तक मै नही गया था। लेकिन छत्तीसगढ के उन कलाकारो से हिन्दी मे काम करवाकर मुझे लगा कि ये तो कमाल के आर्टिस्ट है। नाच भी लेते है, गा भी लेते है अभिनय भी कर लेते है बिना किसी सकोच के (अनइनहिबिटेड)—मुझे इसी टोटैलिटी की तलाश थी, टोटल थियेटर की। मुझ पर जो इप्टा का असर था, इप्टा के कारण लोक शैलियो की ओर जो झुकाव था उन सबके चलते मुझे लगा कि आगे मेरा काम इन कलाकारो के साथ ही होना चाहिए। साथ ही यह भी समझ मे आया कि हम अगर लोक कलाकारो को लेगे तो वे अपनी लोक शैली साथ लायेगे, उनकी तमाम आवाज, कला सब वहाँ मौजूद रहेगी।''

सस्कृत के शास्त्रीय नाटको को लोकशैली मे प्रस्तुत करना कहा तक उचित है इस प्रश्न के उत्तर मे हबीब बौखलाकर बोले—

"दरअसल सही बात तो यह है किसी को शास्त्रीय नाट्य शैली का ज्ञान ही नही है कि वह शास्त्रीय नाट्य शैली मे नाटक करे। मेरा खयाल है कि इसमे बहुत कुछ भ्रम शामिल है। और वह भी गलत भ्रम। सस्कृत के नाटको को पढना और उसे समझना एक बात है और उसको स्टेज करना बिलकुल अलग। डॉक्टर राघवन की हम सब इज्जत करते है, उनकी किताबे पढे बिना सस्कृत नाटक करने का कदम उठाना मुश्किल है। मैने उनकी किताबे पढी, बहुत प्रभावित हुआ लेकिन जब उनका मृच्छकटिक देखा तो लगा उन्हे प्रोडक्शन की कोई जानकारी ही नही है। सस्कृत के पडित नाटक के एक-एक शब्द का बडी बारीकी से अर्थ करते है, उन अर्थो की खूबसूरती मे गोते लगाते है लेकिन थियेटर से उनका दूर दूर तक कोई रिश्ता नही होता। यह हकीकत लोग मानने को तैयार नही कि शास्त्रीय नाट्य शैली के नाट्यधर्म के नाम पर कुछ मूर्तियो के सिवा हमारे पास और कुछ नही है। इन मूर्तियो से हमारे क्लासिकल डास मे रिवाइवल (नव-जागरण) आया लेकिन इसकी चर्चा भी बहुत कम की जाती है। आज जो हम देख रहे है हजारो साल पहले भी वही था यह एक बडा भ्रम है जिसे हम पाल रहे है। कलचर एक डायनमिक (गतिशील) चीज है, उसमे परिवर्तन होता रहता है। दूसरे यह भी जरूरी है कि हम सस्कृत नाटको मे कही गयी बात को सहज रूप मे पकडने की कोशिश कर। ब्रिस्टल मे हमारे एक टीचर थे डकन रॉस। मै उन्हे अपना गुरु मानता हूँ, बलराज साहनी और दीना को भी। उन्होने मुझसे कहा कि 'प्रोडक्शन का क्या मतलब ? प्रोडक्शन का मतलब हुआ नाटक की कहानी को कह जाना। नाटक तभी फेल होते है जब उनकी कहानी ठीक से नही कही जाती। आप एक नाटक पढते है, आपको अच्छा लगता है, आप उसे करना चाहते है। पहली बार पढने पर जो जिस रूप मे अच्छा लगता है उसे पकडना जरूरी है क्योकि जो चीज आप को सहज रूप मे अच्छी लगी वह औरो को भी लगेगी—उस बुनियादी असर को री-कैपचर करना, दुबारा पकडना ही प्रोडक्शन है। रिहर्सल के दौरान बार-बार वही चीज सुन-देखकर आपका मत बदल सकता है लेकिन उस बुनियादी असर को मत छोडिएगा।' बडी खूबसूरत बात कही थी उन्होने। मै अपने नाटको मे

उस बुनियादी असर को जिंदा रखने और दर्शकों तक पहुचाने की कोशिश करता हूँ। यह भी कोशिश करता हूँ कि नाटक की कहानी आसानी से सबको समझ मे आ जाये।

"उन्होने एक और बात कही थी कि 'कथानक का एक अपना फ्लो (गति) होता है, जो चीज उसमे रुकावट डालती लगे उसे हटा दो, जो उसमे सहायक लगे, उसे रख लो—वह चाहे सेट हो चाहे ड्रेस।' मृच्छकटिक को मैने न जाने कितनी बार पढा, न जाने कितने सेट मेरे दिमाग मे घूमते रहे—कम से कम बारह सेट तो जेहन मे घूमे ही होगे। मै जब योरोप मे था तब भी यह नाटक मेरे मन मे था और सच पूछिए तो मै डेढ साल तक इस उम्मीद मे ही भटकता रहा कि इसे कही कर सकूँ, हर मुल्क मे यही एमबिशन (महत्वाकाक्षा) लिये जाता। बेलजियम मे बात पक्की भी हो गयी पर किन्ही कारणो से नही हो पाया। रॉस्टाक ने मुझे बुक भी कर लिया था कि साल भर बाद भारत से लौटकर मै यह नाटक करूगा लेकिन वह भी नही हो पाया। हिन्दुस्तानी थियेटर के लिए जब करने चला तो अहम सवाल था सेट का। मृच्छकटिक का सेट कैसा हो जो नाटक मे रुकावट न डाले। डकन रॉस की बात जेहन मे थी। कोई भी सेट पूरी तरह ठीक नही लग रहा था, किसी मे गाडी तीसरे सीन मे अटक जाती तो किसी मे सातवे मे। करते-करते मै पहुचा एक गोल चबूतरे पर। लगा नाटक के अदर गोल मूवमेट है और उसके लिए गोल चबूतरा ही सबसे सही सेट हो सकता है। बारादरी कटी, और सब कट गया, बचा केवल चबूतरा।

"इस नाटक को करते-करते कई बाते समझ मे आयी। पहली तो यह कि हमारे लोक नाट्यो का गहरा सम्बन्ध सस्कृत की शास्त्रीय परम्परा से है। स्टेज का एक चक्कर लगाकर एक जगह से दूसरी जगह पहुच जाना दोनो मे चलता है। सस्कृत नाटको मे बराबर मिलता है लेटे हुए प्रवेश, सिंहासन पर बैठे हुए प्रवेश। अब ऐसा या तो ट्रेड डासर कर सकता है या फिर पर्दों की सहायता से किया जा सकता है जैसा कि कुचिपुडी या कथकली मे होता है—पर्दे के पीछे छिपे पात्र प्रवेश करते है, पर्दा हटने पर दिखलायी पडते है। ऐसे मे हम आसानी से उन्हे सिंहासन पर बैठाकर या शय्या पर सुलाकर ला सकते है। मुझे ऐसा लगता है कि सस्कृत नाटको को करने के लिए इन लोकनाट्य शैलियो का इस्तेमाल जरूरी होता है। मैने वही किया। मै यह मानता हूँ कि सस्कृत के नाटको का अनुवाद—

उसमे छिपी पोएट्री (काव्य) का अनुवाद कठिन है फिर वह अनुवाद चाहे अंग्रेजी मे हो या हिन्दी या छत्तीसगढी मे। मूल की खूबसूरती को अनुवाद मे लाना नामुमकिन है। दुनिया मे हर कही शेक्सपीयर और ब्रेश्ट का अनुवाद करते समय यही कहा जाता है कि मूल की खूबसूरती अनुवाद मे नही आ पायी है, इसके लिए माफ किया जाय। मेरे हिन्दी या छत्तीसगढी मे किये गये बाद के प्रोडक्शन मे यह कमी रहना स्वाभाविक था लेकिन चूकि 'मिट्टी की गाडी' प्रहसन है, उसमे एक तरह की शक्ति है, ताकत है। पात्रो मे चोर है, लफगे हे, जुआडी हे। गाववालो के लिए इनके हावभाव और मनोवृत्ति को समझना आसान होता है। एक लोक कलाकार धरती मे रची-बसी इन बातो को, इनकी ताकत को जितनी आसानी से मच पर ला सकता था, उतना शहरी आर्टिस्ट नही। कविता का जरूर नुकसान हुआ पर बदले मे हमे मिली वाइटैलिटी (ताकत)। असल मे दोनो को एक साथ पकडना कठिन है। कविता को ज्यादा अहमियत दे तो प्रोडक्शन मे वाइटैलिटी कम हो जाती है और वाइटैलिटी रखना चाहे तो कविता का मोह छोडना लाजमी हो उठता है। बेहतरीन मिडिल क्लास ऐक्टर वह ताकत नही ला पाता, बेहतरीन लोक आर्टिस्ट कविता नही पैदा कर पाता। लेकिन मुझे लगा कि मै बेहतर हालत मे था—कविता थोडी खोयी पर नाटक को मै जानदार बना पाया।''

'मिट्टी की गाडी' वह पहला नाटक था जिस पर हबीब वर्षो से चिंतन कर रहे थे, जिसके पीछे उनका एक खास मकसद था। अक्टूबर सन् 1967 मे इनैक्ट के दसवे अक मे 'माइ लाइफ इन कार्ट' शीर्षक से प्रकाशित उनका लेख 'मिट्टी की गाडी' के मचन के कई पक्षो पर प्रकाश डालता है। प्रस्तुत उद्धरण उस दृष्टि से महत्वपूर्ण है—

''मृच्छकटिक की प्रस्तुति की तैयारी करते समय मेरा ध्यान एक नये ढग का नाटक लिखने की ओर भी था। मै सचेतन भाव से एक सपना देख रहा था कि सारे भारतवर्ष मे थियेटर मे काम कर रहे लोगो के द्वारा बीसवी सदी मे एक नव-जागरण लाया जाय। यद्यपि नाना कारणो से अब इस सपने पर दूसरे रग चढ गये है लेकिन शास्त्रीय या समकालीन, देशी या विदेशी कोई भी नाटक करते समय मेरे मन मे यही रहता है कि यह प्रोडक्शन हिन्दुस्तान के भावी नाट्यलेखन को एक दिशा दे, उसका वाहन बने। इस वाहन को मैने नाम दिया नयी नौटकी। अपनी मिट्टी

की गाडी के लिए मैने इस नाम का उपयोग किया वैसे सब को पता है कि उसमे नौटकी वाली बात नही थी।

"मै यह भी स्वीकार करना चाहता हूँ कि शूद्रक के नाटक को करने की तैयारी के दौरान मै एक नाट्यकार की तरह अपने को तैयार भी कर रहा था। अपने योरोप प्रवास के दौरान जब मै करीब दो सालो तक भटका, मेरे दिमाग मे मृच्छकटिक करने की बात के सिवाय और कुछ नही घूमता था। ऐसे क्षण भी आये जब इस शास्त्रीय नाटक को नये आधुनिक नाटक के रूप मे लिखने का विचार जोरो से मन मे उठा। इस नाटक की धरती की खुशबू, हाजिर-जवाबी और समकालीनता के साथ ही इसकी कल्पनाशील (स्लाइलाइज्ड) लेकिन सीधी शैली ने मुझे प्रभावित किया, वह मेरा मॉडल बनी, हर नाटक लिखनेवाले को ऐसा करना चाहिए। मै इस मॉडल को स्टेज के फ्रेम मे देखना और दिखाना चाहता था। मै यह बहुत ईमानदारी से करना चाहता था अर्थात् मूल ढाचा बदले बिना मै यह देखना चाहता था। नाटक को मैने एडिट किया तो उसकी लम्बाई के कारण और किसी तकनीकी असुविधा के कारण नही। मैने दसो अको के ढाचे को वैसा ही छोड दिया, वैसे इस कारण थोडी असुविधा हुई। पहले अक मे एक साथ ही चारुदत्त के घर का भीतरी हिस्सा और सडक दिखलायी गयी है जहाँ शर्विलक वसतसेना का पीछा करता है। दूसरे अक मे रास्ता और मदिर है जहाँ जुआडी नाई का पीछा करता है, साथ ही वसतसेना के घर का भीतरी हिस्सा। इसी तरह हर अक मे एकाधिक स्थल है। इन सारे स्थलो को दिखलाने मे अडचन आई। चक्री मच वगैरह की सहायता से दृश्य बदल भी लिया जाता तो भी समस्या थी। मसलन यदि वसतसेना के आगनो की शान-शौकत सब दिखला दी जाती तो शूद्रक द्वारा कहे या कहलाये शब्द सब बेमानी होते। जो सामने दिख रहा है उसका अलग से वर्णन क्यो?

"इसलिए एक बात बहुत साफ समझ मे आयी कि सेट तो बहुत सीधा-सादा होना चाहिए। लेकिन सादा से सादा सेट भी नाटक की गति मे रुकावट डाल रहा था। मसलन आखो से ओझल हुए बिना कैसे यह दिखाया जाता कि अभी चारुदत्त अपने धर के भीतर वसतसेना से बात कर रहा है, अभी सडक पर उसे पहुचाने जा रहा है और फिर वसतसेना के घर पहुचता है। अत मे मैने एक किसी गोल स्ट्रक्चर (ढाँचा) की बात सोची क्योकि नाटक मे सब कुछ गोल-गोल घूमता रहता है। एक बारादरी जो

मेरे ध्यान मे पहले से थी, वह भी नाटक जैसा लिखा है, उसमे रुकावट डालने लगी। तब मैने तै किया कि लोक शैली मे इस्तेमाल होनेवाले गोल चबूतरे जैसा एक चबूतरा बनाया जाय। घर के अदर के सारे दृश्य चबूतरे पर हो और रास्ते के चबूतरे के नीचे चारो ओर। इस मच पर पूरा नाटक बडी सहज और तेज गति से बढ चला। मै इस बारे मे निश्चित था कि सस्कृत नाटको मे भारी भरकम सेट का इस्तेमाल नही होता था, वहा कविता के द्वारा पूरा वातावरण खडा किया जाता था जैसा बाद मे हमे शेक्सपीयर मे भी देखने को मिलता है। बीच के गोल चबूतरे के कारण कोना-कोनी मूवमेट और सयोजन (composition) करना पडा। लेकिन मुझे लगा इससे शास्त्रीय नाटक की अपनी गति और रूप को बल ही मिला।

"सेट सीधा-सादा था इसलिए जरूरी हो गया कि पात्रो की वेशभूषा भडकाऊ हो, चटक रगोवाली हो जिससे नाटक का लोकतत्व, उसका काल, पात्रो का विशेष चरित्र और साथ ही उसकी समकालीनता प्रगट हो। समकालीनता को अडरलाइन (रेखाकित) करने की दृष्टि से उस काल की वेशभूषा को स्टाइलाइज्ड बनाया गया और अलग-अलग मूडो को प्रगट करनेवाले रगो का इस्तेमाल किया गया। साथ ही कुछ मुखौटो का भी इस्तेमाल किया गया ताकि कुछ पात्र थोडे अलग हो जाये, उनसे थोडी नाटकीय दूरी (alienation) भी आये। स्पेशल मेकअप ने इन सबको गहराया। आलोक औपचारिक (formal) रहा, अवास्तविक, आकर्षक (evocative) और बिना रगवाला। इस तरह सुनहले रग के कारण कपडो के रग और उभरे। दूसरी चीजो मे केवल वसतसेना के गहनो का डिब्बा इस्तेमाल मे लिया गया, क्योकि नाटक की खास-खास घटनाए गहनो के डिब्बे की चोरी को लेकर है, उसे बाद देना मुमकिन नही था, बाकी के लिए मूक अभिनय किया गया।

"डास नाटक का अतरग हिस्सा था। छ महीनो के रिहर्सल मे ऐक्टरो को डास की ट्रेनिग दी गयी क्योकि हर ऐक्टर को लय से चलना, खास मुद्रा मे खडे होना, मूक अभिनय करना था, वसतसेना को तो नाचना भी था। एक बात साफ कर दूँ, इस सारी ट्रेनिग मे नाट्यशास्त्र के मुताबिक ही काम किया गया हो सो नही। खास बात थी कि ऐक्टर जो कहना चाहता है वह दर्शको तक सही-सही पहुचे। मेरे ऐक्टरो को छूट थी कि वे अपने ढग से यह काम करे। अपने दूसरे नाटको मे भी मै ऐसे ही करता हूँ।

इसके लिए यह जरूरी होता है कि ऐक्टर अच्छा डांसर हो, साथ ही नये तौर-तरीके अपनाने के लिए तैयार हो। अच्छा कल्पनाशील ऐक्टर ही नये-नये ढग से, मूक अभिनय के द्वारा नये-नये चित्र खडे कर सकता है। इन ऐक्टरो को गाना भी था, कुछ पाठ भी करना था। उसकी ट्रेनिग भी दी गयी। आप अनुमान लगा सकते है कि दूसरी तरह के थियेटर मे काम करने के आदी दिल्ली शहर के मिडिल क्लास ऐक्टरो को कितनी मेहनत करनी पडी होगी, कितना कुछ सीखना पडा होगा।

"मिट्टी की गाडी मे गाने रखे गये। ये गाने फिल्मो के गानो की तरह अलग से नही डाले गये थे, शूद्रक द्वारा गद्य या पद्य मे कही बातो को ही गानो मे गूथ दिया गया था। ये गाने या तो कहानी को आगे बढाते थे या फिर किसी बात को। कहानी के प्रवाह को रोकने वाला एक भी गीत नही था। मिट्टी की गाडी मे गाने कई ढग से गाये गये थे। कभी एक या दो लडके-लडकियाँ नाटक मे ऐक्टिग कर रहे पात्रो से अलग एक ओर खडे होकर गाते थे—ऐसा करके कभी वे जो कुछ हो रहा है उस पर टिप्पणी करते थे, कभी पात्रो के मन की बातो को प्रगट करते थे। सवाद के रूप मे भी कुछ गायन होता था, अलग-अलग मौको पर पात्र अपने मन के भाव गाकर प्रगट करता था। ये गाने लोक शैली मे गाये गये थे, धुनें छत्तीसगढ अचल के गोंड, भील आदि आदिवासियो मे प्रचलित धुनें थी। ये धुनें बहुत पुरानी थी, शायद उस काल की जिस काल मे 'मिट्टी की गाडी' की घटना घटित हो रही थी। ये धुनें आज भी कायम है। इन धुनो का इस्तेमाल करके मुझे लगा कि मैं मिट्टी की गाडी के युग को आज के युग से जोड रहा हूँ, नाटक का सगीत जोडनेवाले पुल का काम कर रहा था। यह सब करने मे मेरा मकसद था कि मेरे दर्शक एक साथ ही नाटक मे अपने आप को पहचान भी सके और अपने को नाटक से अलग रखकर नाटक मे जो कुछ हो रहा है, उसके बारे मे सोच भी सके। मैने अपने बाद के हर प्रोडक्शन मे इस बात पर जोर दिया है।

"नाटक के गीत बहुत सरल हिन्दी मे लिखे गये थे। उनमे कुछ लोक-भाषा के लफ्जो को भी डाला गया था ताकि उनका लोक रूप बना रहे। नाटक का लोक रूप बनाये रखने के लिए मै छ आदिवासी आर्टिस्टो को अपने साथ लाया जो नाच सकते थे, गा सकते थे, अभिनय कर सकते थे, माइम कर सकते थे। इन लोगो ने सही मानो मे प्रोडक्शन के लोक रूप

को कायम रखा, इतना ही नही मेरे सारे प्रोडक्शन को कई लेवलो पर एनरिच (समृद्ध) किया खासकर मदनलाल ने।

"सस्कृत के और किसी नाटक के बदले मृच्छकटिक को चुनने का कारण उसकी कथा थी। समाज के निचले तबके के लोगो, चोर-उचक्को, जुआडियो और बदमाशो ने मुझे अपनी ओर खीचा। चरवाहे आर्यक की लीडरशिप और चोर शर्विलक के एक नाचने-गानेवाली दास स्त्री से प्रेम वगैरह ने मुझे प्रभावित किया और मैने इन दृश्यो को काफी अहमियत दी।

"खैर, यह सब हुआ लेकिन खास बात थी गरीब चारुदत्त और आकर्षक नर्तकी वसन्तसेना का प्रेम, उसे पूरा तवज्जो देना ही था। लेकिन इसके साथ ही नाटक का जो राजनीतिक सब-प्लाट है मेरे लिए वह भी पूरी अहमियत रखता था। मैने इस साइड को खूब उभारा। हीरो-हीरोइन के प्रेम के साथ ही अत्याचार के खिलाफ आम लोगो का असतोष बढ रहा था। इस दृष्टि से आदिवासियो का भाग लेना बहुत महत्वपूर्ण था। उनका ताबे जैसा श्याम रग, भूखी नजर, रूखा व्यवहार, उनका अपना अदरूनी सेस आफ रिदम (लय की पकड), सबने मिलकर नाटक की इस साइड को खूब उभारा। आदोलन की लहर पर लहर घूम-घूमकर आती रही और अत मे वह जीत मे बदल गयी। तब तक आदिवासियो द्वारा अभिनीत चरित्र और शहरी मिडिल क्लास कलाकारो द्वारा किये जानेवाले चरित्र सभी नाटक के उप कथानक विद्रोह से इस कदर जुड गये थे कि वही नाटक के मुख्य कथानक मे तब्दील हो गया जो कि मेरी नजर मे मृच्छकटिक का सही और कनटेमपोररी इनटरप्रिटेशन (समकालीन व्याख्या) है।

"कलात्मक स्तर की दृष्टि से देखे तो इस नाटक मे वैसा कुछ करने और पाने की आशा नही थी जो आम तौर पर होनी चाहिए थी। लेकिन इस अनुभव के कारण मै मानने लगा हूँ कि आगे खेले जाने वाले हर नाटक मे चाहे वह समकालीन हो या शास्त्रीय, देशी हो या विदेशी ऐसे आर्टिस्टो को लेना ठीक रहेगा जो नाच-गान-माइम, ऐक्टिग सबमे माहिर हो। इनके साथ भविष्य के डाइरेक्टरो की यूनिवर्सल (विश्व व्यापक) दृष्टि जब जुडेगी तभी सही मानो मे सफल नाटक होगा, टोटल थियेटर हमे आनद देगा।

"जहाँ तक नाटककारो के लिए एक माडल खडा करने की बात है, मेरे खयाल से मृच्छकटिक उस दृष्टि से भी बुरा नही रहा। इसके बाद कई ऐसे नाटक लिखे गये जिनमे नाच, गाना, सगीत, एकालाप, एपिक थियेटर

मेथड (महाकाव्यात्मक नाट्य रीति) वगैरह का इस्तेमाल किया गया जो एक साथ दर्शक को नाटक के साथ जोडते भी थे और उससे अलग होकर सोचने को भी मजबूर करते थे। बात यह नहा है कि मिट्टी की गाडो का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध इन नाटको से था या नही, बात यह अहम है कि इसके बाद ऐसे कई नाटक लिखे गये।" (इनैक्ट अक 10, अक्टूबर 1967 मे प्रकाशित हबीब तनवीर के लेख 'माइ लाइफ इन कार्ट' मे व्यक्त विचारो पर आधारित)।

मृच्छकटिक की प्रस्तुति के प्रसग मे चारुदत्त के चरित्र को लेकर व्यक्त किये गये हबीब तनवीर के विचार उल्लेखनीय है। "मृच्छकटिक मे मुझे जिस चीज से असतोष रहा वह था चारुदत्त का कैरेक्टर। मेरे लिए वह कैरेक्टर बहुत मुशिकल रहा। एक ओर उसमे कविता का अँश है साथ ही वह गरीब है, ऐसा रोनी-सूरत है कि मुझे बहुत बोर करता है। मैने मृच्छकटिक के जितने भी प्रोडक्शन देखे, सबमे चारुदत्त कमजोर रहा, गलत रहा सिवाय बहुरूपी, कलकत्ता के। उस प्रोडक्शन मे कुमार राय ने चारुदत्त का रोल किया था, मुझे अच्छा लगा। अच्छा पार्ट किया कुमार राय ने पर मेरी नजर से वही नाटक की कमजोरी बन गयी। कुमार राय ही नाटक के डाइरेक्टर थे। एक अच्छे ऐक्टर, मैनेजर और डाइरेक्टर के चारुदत्त का रोल करने के कारण वह डामिनेटिग कैरेक्टर बन गया पर दरअसल मृच्छ-कटिक का चारुदत्त डामिनेटिग कैरेक्टर नही है, वह है वसतसेना का। साथ ही छोटे-छोटे कैरेक्टर शकार, सस्थानक वगैरह काफी महत्वपूर्ण है लेकिन इन सबके बदले मुख्य रूप से उभरा चारुदत्त। असल मे चारुदत्त के चरित्र की कोमलता, कवित्व, प्रेम, दैन्य तथा शक्ति को एक साथ रूपायित करना कठिन काम है। मेरी प्रस्तुति मे कवित्व नही उभर पाया था। दुबारा जब छत्तीसगढी कलाकारो से करवाया तो मैने उर्दू के बेहतरीन शायर नियाज हैदर से गीत लिखवाये, उन्हे उन हिस्सो मे जोडा जहा-जहा शूद्रक ने कविता का अश रखा था। ऐक्टरो की कमजोरी को मैने यो ढकने की कोशिश की। धुने छत्तीसगढी भी थी, राजस्थान और यू० पी० की भी। चूकि नियाज हैदर बहुत बडे शायर है उन्होने बडे सरल पर प्रभावपूर्ण ढग से बडी खूबसूरती से गीत लिखे मसलन—जूडा सवारे किरणो का, चदा की गगरी। साझ की बेला, जूडा किरणो का—बड़ी सुदर उपमा थी।"

मिट्टी की गाडी के सम्बन्ध मे हबीब तनवीर का यह विस्तृत विवेचन एक ओर इस नाटक की प्रस्तुति के विभिन्न पक्षो पर विस्तार से विचार करता है तो दूसरी ओर नाट्य लेखन और नाट्य प्रस्तुति के सम्बन्ध मे उनकी मान्यता को भी स्पष्ट करता है जो बाद मे उनकी सभी प्रस्तुतियो मे कमोबेश देखने को मिली। शहरी निर्देशक द्वारा सस्कृत के शास्त्रीय नाटक का लोक कलाकारो के सहयोग से मचन का सभवत यह पहला प्रयास था। वैसे यह सही है कि उनकी यह दृष्टि, शहरी-ग्रामीण कलकारो का ऐसा सयोजन, छत्तीसगढी भाषा का प्रयोग, लोक शैली का समन्वय हर नाटक की कथा और परिवेश के साथ फिट नही बैठता जैसे लाला शोहरत राय लेकिन चरनदास चोर, बहादुर कलारिन, हिरमा की अमर कहानी, सोनसागर जैसे नाटको को इस समन्वय ने अद्भुत जीवन्तता और शक्ति प्रदान की है। हबीब की पहचान ही इन प्रस्तुतियो से बनती है। आधुनिक नाटको मे लोकशैली के समन्वय की जो चेष्टा पिछले पद्रह-बीस वर्षो से जोरो मे की जा रही है, उसका सूत्रपात हबीब के द्वारा छठे दशक मे कर दिया गया था। सच पूछा जाय तो वह प्रयत्न इधर के प्रयत्नो से अधिक सार्थक था क्योकि हबीब ने शहरी कलाकारो द्वारा लोकगीत–लोकनृत्य नही करवाये, उन्होने लिया लोक-कलाकारो को। उनकी शक्ति, उनका रूखापन, उनकी जीवन्तता सहज स्वाभाविक थी, लोक-कलाकार बनने के लिए ओढी गयी नही। यही कारण है कि हबीब के चरनदास आदि जैसे नाटक पिछले पद्रह-सत्रह वर्षो से लगातार खेले जा रहे है और जब भी जहा भी खेले जाते है अपने सहज सौन्दर्य और प्राणवतता के कारण दर्शको को मुग्ध करते है।

इस प्रसग मे सुप्रसिद्ध पत्रिका कल्पना के अप्रैल सन् 1958 के अक मे प्रकाशित डाक्टर सुरेश अवस्थी की समीक्षा विशेष महत्वपूर्ण है। समीक्षक ने प्रस्तुति की शक्ति और सीमा का उल्लेख किया है साथ ही उभरते निर्देशक हबीब तनवीर की दृष्टि को समझने का प्रयत्न करने के साथ ही उस पर अपना मतव्य भी प्रगट किया है।

"स्थानीय हिन्दुस्तानी थिएटर ने शूद्रक के सस्कृत नाटक 'मृच्छकटिक' का हिन्दी रूपान्तर 'मिट्टी की गाडी' नाम से प्रस्तुत किया। निर्देशक हबीब तनवीर ने इस नाट्य प्रयोग को नई नौटकी की सज्ञा दी है। निर्देशक ने वक्तव्य मे कहा है कि इस नाट्य प्रयोग मे नृत्य-नाटक (बैले) और गेय नाटक (ऑपेरा) के तत्व भी सम्मिलित किये गये है। उनका कथन है कि इस

प्राचीन नाटक का नवरूपण करने और उसे समसामयिक कलाभगिमा देने के लिए प्रदर्शन मे अनेक दूसरे देशी और विदेशी नाट्य-तत्वो को भी समाहित किया गया है। निर्देशक की धारणा है कि प्राचीन सस्कृत नाटको को आधुनिक कलात्मक सगति देने के लिए इस प्रकार के विभिन्न तत्वो का समावेश और नये नये प्रयोग नितान्त आवश्यक है।

"इस नाट्य प्रदर्शन का मूल्याकन करते समय निर्देशक का यह वक्तव्य और प्राचीन सस्कृत नाटको के नये प्रयोग के सम्बन्ध मे उनकी मान्यताए ध्यान मे रखना जरूरी होगा। ऐसा इसलिए और भी जरूरी है कि यह प्रदर्शन निश्चित ही रगमच की आधुनिक रीतियो और व्यवहारो से सर्वथा विलग एक बडा ही साहसिक प्रयोग है और इसमे रगमच के सभी कालपक्षो दृश्य-रचना, पात्रो की वेशभूषा और दूसरी अनेक परम्परागत रगमच रूढियो मे सर्वथा नवीन सामग्री और नए नियमो का समावेश किया जाता है। और यही कारण है कि इस प्रदर्शन का विवेचन एक प्रदर्शन के गुण-दोषो, सफलताओ और असफलताओ का ही विवेचन नही है, बल्कि इससे कई प्रकार के जो मूल प्रश्न उठते है उन पर पूरा विचार अपेक्षित है।

"सब से पहले यदि हम 'मिट्टी की गाडी' के साहित्य अश—सवाद, गद्य और पद्य दोनो ही और गानो को ले तो ऐसा लगता है कि इ ा नाटक को हम शूद्रक के मृच्छकटिक का न तो अनुवाद ही कह सकते है और न रूपान्तर ही, क्योकि इन दोनो साहित्य प्रक्रियाओ के कुछ निश्चित नियम और स्थापनाए है। इस नाटक मे तो मौलिक नाटक के साहित्य अश के साथ पूरी तरह से स्वेच्छाचारिता बरती गयी है और सवादो का सम्पादन करने मे पूरी छूट ली गई है। इस प्रकार का नाट्य रूपान्तर, कथावस्तु का नवरूपण वस्तुव्याख्या भी नही कहा जा सकता। कोई भी साहित्यिक कृति, विशेष रूप से नाटक, रूपान्तरकार अथवा प्रयोगवादी निर्देशक को ऐसी स्वतन्त्रता नही देती कि उसके कथानक के अभिप्रायो और पात्रो की चारित्रिक भगिमाओ को आमूल बदल दिया जाए।

"मिट्टी की गाडी मे प्रयोगशीलता की दूसरी दिशा उसके रगमचीय उपस्थापना से सम्बन्ध रखती है और इस सम्बन्ध मे भी कई प्रकार के गम्भीर सन्देह मन मे उठते है। प्राचीन और शास्त्रीय नाटको की समसामयिक कलाप्रवृत्तियो और रुचियो के अनुरूप प्रस्तुत करने की समस्याए अनेक है और उनके कई पक्ष है। जब तक हम पूरी तरह से नाटक के मौलिक स्वरूप, उसके कलात्मक आशयो और सकेतो को नही समझ लेते और साथ ही हमारी

आधुनिक जीवन और साहित्यिक मूल्यो की अवधारणा भी स्पष्ट नही है, तब तक हम उन दोनो मे किसी तरह का सामजस्यपूर्ण कलात्मक सम्बन्ध स्थापित नही कर सकते। 'मिट्टी की गाडी' के प्रदर्शन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृच्छकटिक नाटक के पूरे सामाजिक और सास्कृतिक अभिप्रायो को ठीक से नही समझा गया और उसे जिस रूप और जिन रीतियो से आधुनिकता का जामा पहनाया गया है, उससे वह हास्यजनक हो गया है। रगमच शायद दूसरे ऐसे साहित्य कला माध्यमो की अपेक्षा अधिक पुराननवादी होता है और अपनी प्राचीन परम्पराओ और रूढियो को न तो एक साथ, एकदम छोड सकता है और न अनेक नये तत्वो और रूढियो को एक साथ स्वीकार ही कर सकता है। यद्यपि इस पुरातनवादिता के साथ रगमच शायद सभी दूसरे कला माध्यमो की अपेक्षा सबसे अधिक प्रयोगगामी और सवेदनशील होता है और सभी प्रकार के नये प्रयोगो और व्याख्याओ को बडी उदारता के साथ ग्रहण करता है किन्तु वह कभी भी एक साथ बहुत बडे परिवर्तन के लिए तैयार नही रहता। वह तो धीरे-धीरे आशिकरूप से परिवर्तित होता है और उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन तभी सम्भव और सार्थक हो पाता है जब उसकी वर्तमान रूप और स्थिति के साथ पूरी-पूरी सगति हो। रगमच सभी ऐसे प्रयत्नो को नकार देता है जिनका उद्देश्य उसके पूरे ऐतिहासिक तथ्य को ठुकरा देना होता है और जिनमे बिलकुल ही नये विजातीय रूपाकार को आरोपित करने का प्रयत्न किया जाता है।

"मिट्टी की गाडी के सभी प्रदर्शन पक्षो को यदि अलग-अलग ले तो हम देखते है कि नाट्यधर्मी और लोकधर्मी—दोनो ही प्रकार की परम्पराओ की बहुत बडी अवहेलना की गयी है। पात्र तरह-तरह की विचित्र वेशभूषा मे प्रस्तुत किये गये है। घाघरे, लँहगे, धोतिया, पायजामे, तहमद, बडी, कुर्ते, अजीब तरह की टोपिया और पगडिया और चिथडी और सरकडो के मुखौटे पहनकर पात्र आते है, और सूत्रधार तो ओवरकोट पहने हुए, पाइप पीता हुआ नाट्य प्रदर्शन की सूचना देता है। वेशभूषा के चुनाव और उसके प्रयोग मे किसी तरह का कोई विवेक और व्यवस्था नही है। इसी प्रकार रगमच पर पात्रो की नृत्यवत् गतिया, अभिनय, समूहन, अनेक दृश्य-उपकरणो का प्रयोग—यह सभी कुछ तरह-तरह की मिली-जुली शैलियो में प्रस्तुत किया जाता है। कभी तो उसमे प्रहसन जैसी अत्युक्तियाँ और कलाबाजियाँ दिखाई जाती है, और कभी बडी ही शैलीगत रूढ गतियाँ और नितान्त स्वाभाविक मुद्राएँ और अग-सचालन प्रस्तुत किये जाते है। अनेक शैलियो का मिला-जुला यह

रूप निर्देशन के सभी पक्षो मे व्यक्त हुआ है जिससे पूरे प्रदर्शन मे किसी प्रकार की रूप और शैलीगत एकता नही आ सकी है। प्रदर्शन की यह रूप ओर शैलीहीनता और विविधता दर्शक के रसानुभव मे ही बाधक बन जाती है।

"नाटक का सगीत अश—गायन और वादन दोनो ही—लोकगीतो की शैली मे ढाले गये है। कुछ गानो को छोडकर अव्यवस्थित और रूपहीन है, न तो वह ऊचे स्तर का सगीत ही है और न उसे नाट्यशक्ति मे सम्पन्न किया जा सका है। पद्य-सवाद पाठ्य भी प्रीतिकर नही है।

"इस प्रदर्शन के प्रयोग पक्ष का चाहे जो कुछ भी उद्देश्य हो—चाहे केवल प्रदर्शन की प्रचलित रीतियो को छोडकर निर्देशक कुछ नया प्रस्तुत करना चाहता हो, और चाहे उसका उद्देश्य इससे कुछ अधिक गम्भीर और मौलिक हो, किन्तु यदि निर्देशक इसे "नयी नौटकी" कहकर सिद्ध करना चाहता है कि उसने लोकनाट्य रूपो का पुनर्गठन करने और उनको शहरी समाज के लिए आकर्षक और मनोरजक बनाने के लिए हमको सही रास्ता दिखा दिया है, तो मै समझता हूँ कि यह दावा गलत और भ्रामक होगा। यह प्रदर्शन किसी प्रकार मे भी नौटकी के रगमचीय तत्वो और गुणो को उजागर नही करता है। सच बात तो यह है कि नौटकी नाट्य-रूप के जो गुण और उसकी विशेषताए है उनको भी इस प्रदर्शन मे उपयोगी और प्रभावशाली ढग से अपनाया नही गया। बल्कि, उनको कुछ हद तक भ्रष्ट और कलाहीन बना दिया गया है। इसमे सदेह नही कि हमको अपने प्रदर्शनो मे लोक-नाट्य रूपो के बहुत कुछ तत्व अपनाने है और अपना नया शहरी नाटक विविध रूपो मे ढालना और सवारना है लेकिन, यह तभी सम्भव है जब हम लोकनाट्य-रूपो की कला-परम्पराओ और प्रवृत्तियो को अच्छी तरह समझ ले और गहरी रचनात्मक दृष्टि के साथ सारी सामग्री का सस्करण करें।"

सन् 1958 मे मूलत प्रस्तुत 'मिट्टी की गाडी, का प्रदर्शन अभी तक हो रहा है। अवश्य ही सन् 1977 मे हबीब ने इसका पुनर्सस्कार किया। नाटक का अनुवाद पूरी तरह छत्तीसगढी भाषा मे कर दिया, उसमे प्रचुर गानो का सयोजन किया और इस प्रकार सस्कृत का एक गौरवग्रन्थ पूरी तरह लोक स्तर पर प्रतिष्ठित किया गया। जैसा कि कहा जा चुका है स्वय हबीब के अनुसार 'मिट्टी की गाडी' आम जनता का नाटक है, उसके

पात्रो मे समाज के सामान्य और निम्न वर्ग के चोर, जुआरी, शराबी भी शामिल है, नाटक का कथ्य और शिल्प दोनो लोक जीवन के अधिक निकट है। हबीब की यह मान्यता बहुत दूर तक सही है पर शायद हम इस तथ्य को झट मे स्वीकार नही कर पाते, सस्कृत नाटक शब्द कान मे पडते ही हमारे सामने समाज का अभिजात वर्ग उभरकर आता है, हमारी अपेक्षा बनती है कि सामान्य व्यक्ति भी एकदम उजड्ड, गवार और रूखा न हो। हमारे ऐसा मानने का कोई औचित्य नही तथापि ऐसी ही स्थिति बनती है। एक और बात है, इस तथ्य को हम मान भी ले तो उन पात्रो की ही ग्राम्यता सगत लगती है जो वास्तव मे ग्रामीण या सस्कारहीन हे। राजा, सामत या नगरवधुओ मे हम एक प्रकार के आभिजात्य और सस्कार की अपेक्षा करते है। इस दृष्टि से 'मिट्टी की गाडी' और बाद मे 'लाला शोहरत राय' मे लोक कलाकारो की अनेक भूमिकाए अनुकूल नही हुई और वे दर्शको के मन पर वह स्थायी प्रभाव नही छोड पाये जो चरनदास, बहादुर कलारिन या हिरमा मे छोडते है। इस दृष्टि से मिट्टी की गाडी की आलोचना भी हुई है। सन् 1987 मे कलकत्ता मे चेशायर होम इडिया के सहायतार्थ नया थियेटर के तीन नाटक प्रस्तुत किये गये। उन नाटको के प्रदर्शन के बाद भारतकथा के 9 अप्रैल 1987 के अक मे समीक्षक शिवानी भट्टाचार्य द्वारा व्यक्त विचार प्रस्तुत है—

"मृच्छकटिक शूद्रक की रचना है। सस्कृत भाषा मे लिखित इस नाटक की रचना की ठीक तिथि का हमे ज्ञान नही लेकिन अब तक प्राय दस विदेशी भाषाओ मे इसका अनुवाद हो चुका है। यह तथ्य ही नाटक की लोकप्रियता का प्रमाण है। अपने कुछ आतरिक नाटकीय वैशिष्ट्य के कारण यह नाटक अब तक जीवित रह सका है। साथ ही मृच्छकटिक मे तत्कालीन समाज के कुछ ऐसे चित्र प्रस्तुत किये गये हे जो आज भी हमे दिखलाई पडते है। अर्थात् इसका सम्बन्ध सारी दुनिया के लोगो स है।

"इस नाटक का अनुवाद हबीब तनवीर ने 'मिट्टी की गाड़ी' नाम से किया है और प्रस्तुत किया है अपनी स्टाइल मे लेकिन ऐसा करने मे वे मूल नाटक से हटे नही है केवल दो क्षेत्रो को छोडकर। पहला गाना और दूसरा मचसज्जा। सस्कृत नाटक मे जिस तरह की मचसज्जा का उल्लेख प्राप्त होता है उसके साथ इस नाटक की मचसज्जा का कोई सम्बन्ध नही था। मच के बीचोबीच एक गोल प्लैटफाम रखकर मच को दो

तलो मे बाट दिया गया था। और इस ऊपरी तल के एकदम पीछे दो रगीन छीट के खभे खडे करके अलग-अलग जगहो का बोध कराया जा रहा था। इसके फलस्वरूप मचसज्जा लोकशैली के निकट लग रही थी।

"मिट्टी की गाडी की इस प्रस्तुति-शैली के कारण नाटक के कुछ विशेष अश अच्छी तरह नही उभर पाये जैसे वसन्तसेना और आर्यक वाले अश जिन्हे नाटकीय दृष्टि से सबसे अधिक रोचक होना चाहिए था। या फिर कही-कही शारीरिक अभिनय केवल 'विवरण' मात्र होकर रह गया, उससे अधिक कुछ नही। जैसे वसतसेना के घर का परिचय देने के समय, चारुदत्त के घर मे शर्विलक के सेध काटने के दृश्य मे, निर्देशक ने जो शैली अपनायी है वह इस कथन की पुष्टि करती है।

"नगर के श्रेष्ठ और सत् वणिक चारुदत्त तथा नगर की श्रेष्ठ गणिका-पुत्री वसन्तसेना की प्रणयकथा नाटक का प्रतिपाद्य है। नायिका प्रधान इस नाटक मे फिदाबाई ने सचमुच नायिका की भूमिका मे बहुत सुन्दर अभिनय किया लेकिन चारुदत्त की भूमिका मे उदयराम फीके रहे। उनकी भावाभिव्यक्ति या वाचनभगी किसी के द्वारा भी चारुदत्त का सुख, यत्रणा, हताशा रूपायित नही हो पाया।

"तथापि खलनायक शकार की भूमिका मे स्वय तनवीर ने अत्यत सुन्दर अभिनय किया। लेकिन विदूषक मैत्रेय की भूमिका के लिए रामचरण का चुनाव सगत नही था। न तो उनका रूपाकार चरित्र के अनुकूल था न ही सवाद का वाचन/सम्प्रेषण। फलस्वरूप मैत्रेय चारुदत्त के विदूषक भर रहे, दर्शको के लिए वे मशीनके पुतले ही रहे। वसतसेना की दासी मदनिका की उम्र और कम होने से अच्छा रहता।

"गत 31 मार्च को उत्तर कलकत्ता के गिरीश मच पर हबीब के नया थियेटर ने चेशायर होम्स इडिया के सहायतार्थ 'मिट्टी की गाडी' का मचन किया। 28 मार्च से 1 अप्रैल के बीच उन्होने जिन तीन नाटको का मचन किया, उनमे यह अन्यतम था।

"मृच्छकटिक एक क्लासिक नाटक है। यह बहुत ही सही है कि इस क्लासिक नाटक की उपयोगिता है। तथापि इस नाटक मे स्वगतोक्तियो का जैसा व्यवहार किया गया है या प्रस्तुति को जितनी लबी किया गया है वह आज के युग के आधुनिक दर्शक के धैर्य को विचलित करती है। यह दोष किसका है—नाट्यकार का या निर्देशक का ?"

सस्कृत और लोकनाटको के परस्पर सम्बन्ध के बारे मे हबीब तनवीर की दृष्टि बहुत साफ है। उनके अनुसार ये दोनो ही पारम्परिक थियेटर हैं और लोक नाट्य ही कालातर मे एक निश्चित रूप (crystalized) लेकर शास्त्रीय नाटक बन जाता है, हर देश मे यही होता आया है। पूजा-होम-अनुष्ठान आदि के समय किये जानेवाले कृत्यो मे नाटकीयता के बीज मिलते है। ये ही पहले लोकनाट्य के रूप मे विकसित होते है और फिर समाज के पढे-लिखे लोगो के हाथो मे पडकर नियमो मे बधते है, लोक से शास्त्रीय की ओर उत्तरण करते है। हम अपने देश मे देखे तो सस्कृत नाट्यलेखन और मचन की परम्परा समाप्त हुए करीब एक हजार वर्ष हो गये लेकिन लोकनाटय सदा बना रहा भले ही हमे उसके बारे मे जानकारी हो या न हो। हबीब साहब इस बारे मे बहुत स्पष्ट है कि हमारी शास्त्रीय नाट्यधर्मी परम्परा और नाट्य-रूढियो तथा लोकनाट्य की लोकधर्मिता और लोक नाट्यरूढियो मे गहरी समानता है। सस्कृत नाटको मे जिस तरह सेट का इस्तेमाल नही किया जाता और वर्णनो के द्वारा स्थान के सौदर्य और विशेपता का बोध कराया जाता है उसी प्रकार लोक नाटको मे भी सीन-सीनरी इस्तेमाल करने की परम्परा नही है। दोनो मे ही पात्र मच पर एक-दो चक्कर लगाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुच जाते है और नये स्थान के वर्णन के द्वारा वहॉ का पूरा चित्र दर्शको की कल्पना के सामने सजीव बना देते हे। दर्शको की कल्पना को सजग रखने का पूरा काम दोनो तरह के नाटक करते हे। दर्शको से सीधे बातचीत की परम्परा भी दोनो नाट्यशैलियो मे है। इसी तरह नाच-गान और अभिनय का समन्वय—टोटल थियेटर की आधुनिक अवधारणा का रूप—हमे इन दोनो प्रकार के नाटको मे प्राप्त होता है। हबीब साहब के अनुसार इस तथ्य को समझकर और स्वीकार करके ही हम सस्कृत नाटको के मचन की समस्या का समाधान कर पायेगे साथ ही अपनी जडो तक पहुच सकेंगे। वे उन लोगो से पर्याप्त असतुष्ट है जो बात-बात मे नाट्यशास्त्र की दुहाई देते है लेकिन नाट्य शास्त्र मे कही बात को व्यावहारिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न नही करते। उनकी दृढ धारणा है कि शास्त्रीय और लोक नाट्यरूढियो का अध्ययन और समन्वय आधुनिक नाट्यकारो और निर्देशको को बहुत सी नयी बातो और नये तौर-तरीको से परिचित करा सकता है और उसके फलस्वरूप वे कुछ नये का सृजन कर सकेंगे—ऐसा नया जो नया भी होगा साथ ही भारतीय भी होगा। (जून 1970 के इनैक्ट मे प्रकाशित साक्षात्कार पर आधारित)।

इमी प्रसग मे एक और बात। आम धारणा है कि सस्कृत नाटक पढे-लिखे सुरुचि सम्पन्न नागरो के लिए होता था और लोकनाट्य बिना पढे-लिखे, अनगढ ग्रामीणो के लिए। हबीब इस धारणा के विरोधी है। उनकी मान्यता है कि ऐसा विभाजन अनुचित और अन्यायपूर्ण है। लोकनाट्य प्रस्तुत करनेवाले अनपढ भले ही हो, वे बडी-बडी शास्त्रीय बाते न कर पाते हो लेकिन वे असस्कृत नही होते। उनमे रसज्ञता, कल्पना कला-कौशल आदि किसी भी शास्त्रीय नाट्य-साधक से कम नही होता। हाँ उसका स्वरूप थोडा भिन्न होता है लेकिन कला या रस से शून्य नही। उनका यह भी कहना है कि हमारी यह धारणा भ्रात है कि सस्कृत नाटको की रचना और मचन केवल पढे-लिखे तथाकथित सुसस्कृत नागरो के लिए ही होता था क्योकि यदि ऐसा होता तो सस्कृत नाटको मे प्राकृत का उपयोग न किया गया होता। वास्तविकता तो यह है कि अनेक सस्कृत नाटको मे सस्कृत से अधिक प्राकृत का उपयोग किया गया है। उच्च वर्गो और पडितो की भाषा सस्कृत है, काव्याश भी सस्कृत मे है तथापि शेष सब कुछ प्राकृत मे। नाट्यकारो के समक्ष अवश्य ही पूरा समाज रहता रहा होगा तभी वे राजा-महाराजाओ के अतिरिक्त अन्य साधारण व्यक्तियो को भी अपने नाटको मे पात्र बनाते थ और उनके सुख-दुख, प्रणय-वियोग आदि का चित्रण करते थे। लोक कलाकार आज भी अपनी परम्परा के अधिक निकट है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इन कलाकारो के साथ हम काम करे, इनकी शक्ति और प्राणवतता को ग्रहण करे। शहरी और ग्रामीण, सस्कृत और असस्कृत, नाट्यधर्मी और लोकधर्मी आदि भेदो को भूलकर इन सबमे व्याप्त उन समान तत्वो को समझने का प्रयत्न करे जो इनकी शक्ति है, प्राण है और जिन्हे समझ-स्वीकार कर हम अधिक समृद्ध बन सकते है। हबीब तो यहाँ तक कहते है कि—

"हम लोग जब गरीबी की बात करते है, विकास की बात करते है तो हम यह मानकर चलते है कि सबसे गरीब लोग गाँवो मे रहते है लेकिन हम इस तथ्य की ओर कभी ध्यान नही देते कि सबसे धनी लोग भी गावो मे रहते है—आर्थिक दृष्टि से सबसे निर्धन लेकिन साम्कृतिक दृष्टि से सबसे धनवान—यही तो हमारा विरोधाभास है। मै यह नही कहता कि हमने शहरी सस्कृति के फलस्वरूप जो कुछ पाया है उसे भूल जाना चाहिए लेकिन यह जरूर कहना चाह ा हूँ कि यह शहरी कल्चर अधूरा है, बाहर से आया है, पश्चिम से आया है। यह जरूरी है कि हम पूर्वी सस्कृति के तौर-

तरीको को अपनाये, तभी हम कुछ नया, मौलिक दे पायेग। शहरो कल्चर मे आज वैकुअम है, शून्य है।" (वही)

इस प्रश्न के उत्तर मे कि छत्तीसगढ अचल के कलाकारो का दिल्ली लाकर (या शहर मे लाकर) उनसे अभिनय करवाने के पीछे आपका उददेश्य क्या है, हबीब ने कहा—

"मै चाहता हूँ कि दिल्ली की सुरुचि सम्पन्न (सॉफिस्टिकटेड) दर्शक-मडली गाँव के सुरुचिहीन कलाकारो के अनगढपन का अनुभव कर सके, उनकी सहज शक्ति और जीवन्तता का स्पर्श पा सके। मैने यह अनुभव किया है कि बहुत सी स्थितियो को— विशेषकर हास्य नाटक मे—एक लोक कलाकार अपने अनगढ ढग से जिस खूबसूरती और गहरायी से पेश करता है, शहरी कलाकार नही कर पाते। नाटक देखने और उसके बारे मे बात करने को फैशन मानकर जो लोग नाटक देखने और उसके बारे मे बात करते है उन शहरी फैशनेबुल लोगो के सामने मै ग्रामीण कलाकारो और उनकी जीवन्त कला को रखना चाहता हूँ जो पढे-लिखे न होते हुए भी कल्पनाशील है, कुशल है, प्रभावी है।

"एक बात साफ कर दू। मै यह नही मानता कि गाँवो मे जो कुछ होता है, जैसे होता है सब ग्रहण करने के लायक है। मै करता भी नही। मै उनकी उन्ही बातो को लेने के पक्ष मे हूँ जो हमारे लिए काम की हो, हमारे थियेटर को समृद्ध कर सके। हमलोग आज अपनी क्लासिकल परम्परा को जानने-समझने की कोशिश कर रहे है। इसके लिए यह जरूरी नही कि हम जो है उसे तोडे फोडे और फिर कुछ नया खडा करे। गाँवो मे आज भी बहुत कुछ पारम्परिक रूप मे चला आ रहा है। हम उसे देखे, समझे और उसे स्वीकार करे। गावो का सामूहिक कला प्रदर्शन और सामूहिक जीवन इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।" (वही)

हबीब तनवीर के अनुसार गाँव और शहर की सस्कृतियो, चाल-चलन, रिवाज आदि के बीच आदान-प्रदान आवश्यक है। स्वतत्रता प्राप्ति के बाद लबे अरसे तक कला का विकास शहर-केंद्रित रहा, सरकार की ओर से कला और कलाकारो के विकास के लिए जो कुछ किया गया उसका केन्द्र शहर रहा। गावो मे रहनेवाले लोगो, लोक कलाकारो, लोकनाटको आदि को कला

और सस्कृति के क्षेत्र मे आगे बढाने और उन्हे प्रश्रय देने की दृष्टि से किये गये प्रयत्न नगण्य है। यह दूरी कम होना आवश्यक है। पश्चिमी सभ्यता और दृष्टि से प्रभावित शहरी रगमच का अपना महत्व है, उसे अस्वीकार करने की आवश्यकता नही लेकिन हाँ, हमे वही रुक नही जाना चाहिए, उसके अलावा जो कुछ है, उसे भी जानने-समझने का प्रयत्न करना चाहिए, साथ ही विकसित होने का अवसर प्रदान करना चाहिए क्योकि हमारा मूल उन्ही मे स्थित है।

अभीक घोष के अनुसार "हबीब तनवीर सतुलित दृष्टिवाले व्यक्ति है। उनकी मान्यता है कि शहरो मे जिस तरह के नाटक लिखे और खेले जा रहे है, उनका अपना महत्व और स्थान है। पश्चमी सभ्यता और जीवनदृष्टि से प्रभावित ये नाटक रहेगे ही क्योकि हम सामान्य रूप मे पश्चिमी सभ्यता और दृष्टि से प्रभावित हुए है। सक्रान्ति काल (ट्रानजिशनल पीरियड) मे ऐसा होना स्वाभाविक है। इस काल मे हुए मोहन राकेश और बादल सरकार जैसे नाट्यकारो ने हमे जो नाटक दिये है उनमे पश्चिम और पूर्व की दृष्टियो का सम्मिलन प्राप्त होता है क्योकि एक ओर वे पढे-लिखे पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित दृष्टिवाले व्यक्ति है साथ ही अपनी जडो से गहरे जुडे भारतीय नाट्यकार। आज एक साथ कई तरह के नाटक दिखलाई पड रहे है—कुछ लोकप्रिय नाटक जो अश्लील और सस्ते है और इनकी प्रतिक्रिया स्वरूप हो रहे कुछ नकचढे (high brow) नाटक जो बहुत सी बडी-बडी बाते करते है। हमे इन दोनो से बचना चाहिए। जैसे 'अकेलेपन' (isolation) की बात ले। आज नाटको मे बहुत बार इसकी चर्चा की जा रही है लेकिन हमारी भारतीय परिस्थितियो से यह बहुत दूर है। इन स्थितियो को जबरदस्ती हम पर लादने मे कोई तुक नही (इनैक्ट, जून 1970)।



हबीब तनवीर के थियेटर के जीवन की पहली मजिल थी 'आगरा बाजार'। 'मिट्टी की गाडी' ने उनके सामने रास्ता स्पष्ट किया और दूसरी मजिल बनी, अगला नाटक 'गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' (1973)। स्वय उनके शब्दो मे —

"जहा-जहा मेरे अपने शऊर मे, मेरी कॉनशसनेस मे डेवलपमेट नजर आया है, जहा मुझे लगता है कि मैने कोई नयी चीज दी है, उसे मै अहमियत देता हूँ। उस हिसाब से पहली मजिल थी आगरा बाजार और 'गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' दूसरी—बहुत बडी मजिल, 'चरनदास चोर' से भी ज्यादा बडी। यह मेरा पहला मोड था जहा से मैने वह दिशा पकडी जो आगे मेरी अपनी दिशा बनी, जिस खासियत के कारण आज मै देश-विदेश मे जाना जाता हूँ। लोग 'चरनदास चोर' को ज्यादा जानते है, उसे ज्यादा अहमियत देते है क्योकि एक पूरे नाटक के तौर पर वह ज्यादा पापुलर हुआ लेकिन 'चरनदास चोर' मुमकिन हुआ गॉव का नाम ससुराल' के कारण। लोक कलाकारो को लेकर पहली बार मैने ठीक से काम किया इस नाटक मे। लोक-कलाकारो की खासियत होती है उनकी आशु शक्ति मतलब अग्रेजी मे जिसे इमप्रोवाइजेशन कहेगे। प्रसग के मुताबिक वे डायलाग बनाते चलते है, कविता और गीत भी गढ लेते है उनमे यदि कोई शायर हुआ तो। पिछले कई सालो से इन कलाकारो के साथ काम करने के दौरान मैने यह महसूस किया कि इनकी इस ताकत का इस्तेमाल करना चाहिए तभी हम इनकी पूरी कैपेसिटी (क्षमता) को जान-समझ पायेगे। गाव का नाम ससुराल मे मैने उन्हे पूरी छूट दी। इसमे मैने तीन कहानिया रखी है। उन कहानियो की रूपरेखा मैने उन्हे बता दी—एक सीनेरियो जैसा बना लिया और उन्हे बतला दिया कि कहानी यहा से शुरू होती है, ये-ये होता हे और यहा खत्म होती है। अब तुमलोग खडे होकर डायलाग बनाओ और बोलो। वे चालू हो जाते। अब उस बोलने मे शुरू मे कुछ बकवास भी करते कुछ बडी खूबसूरत चीजे बोल जाते, कुछ दोहराते भी। बीच-बीच मे मुझे जरूरत महसूस होती तो

उन्हे टोकता, रोकता। इस तरह धीरे-धीरे करके दो-चार हफ्तो मे बहुत कुछ तै हो गया और तब मैने बैठकर पहला ड्राफ्ट लिख डाला। लाकर उन्हे सुनाया और कहा कि अब तुमलोग इसे भूल जाओ और अपने डायलाग बोलो। करते-करते एक जगह आकर नाटक ठहर गया। ये कलाकार पढे-लिखे तो होते नही इसलिए इस तरह के इम्प्रोवाइजेशन के कारण वे सहज अनुभव करते है, बात मे से बात निकलती चलती है। बहुत बार वे बडी खूबसूरत बात बोल जाते है, बात जिसकी ओर आम तौर पर मेरा ध्यान हो न जाता। इस तरह की आजादी के कारण कलाकारो को एक और फायदा होता है, वे ज्यादा खुलकर अभिनय करते है। हर शो बदला हुआ होता है, कुछ छूट जाता है, कुछ नया जुड जाता है। अब हमलोगो को तो इस तरह मर्जी के मुताबिक छोडने और जोडने मे परेशानी होती है लेकिन इन कलाकारो को कोई दिक्कत नही होती क्योकि ये आदी होते है इसके। इनके साथ तो मजा यह होता है कि कोई ऐक्टर यदि कोई नई बात कह गया तो उस पर यकीनन सामने वाले को कोई नयी बात सूझ जाती है और बात आगे बढ चलती है। वैसे यह सही है कि थोडा बहुत इधर उधर भटकने के बाद तय रास्ते पर आना जरूरी होता है, आ भी जाते है। कभी-कभी दिक्कत भी होती है हमारे एक ऐक्टर थे ठाकुरराम। बड़े अच्छे ऐक्टर थे, बडी सूझबूझवाले। मर गये बेचारे। गाव का नाम मे काम करते थे, शो मे बीस-बीस मिनट का फर्क पड जाता था। डायलाग भूल जाते थे और कोई नयी बात छेड देते थे और फिर उसे ही बढाते चलते थे। ऐसे मे सामने वाले ऐक्टर को परेशानी होती थी। थोडी देर तो ठीक रहता लेकिन जब ये ज्यादा बहकने लगते तो उसे परेशानी होती कि कैसे इन्हे वापिस लाया जाय। तब धीरे से ठाकुरराम को बतलाना पडता था कि—दादा, यह रिहर्सल नही शो है, लाइन पर आइए।"

इस प्रश्न के उत्तर मे कि क्या आप उनकी सब बात मान लेते है, हबीब बोले—"सब नही। वे हीरे-मोती भी लाते है और ककड-पत्थर भी। हीरे-मोती मै रख लेता हूँ, ककड-पत्थर छोड देता हूँ। जैसा कि मै कह चुका हूँ कि फोक कलाकारो की ताकत को मैने सही ढग से गॉव का नाम समुराल मे समझा, उसका पूरा इस्तेमाल किया, ऐक्टरो को छूट दी कि वे खुलकर अभिनय करे और मेरा खयाल है कि मै अपने मकसद मे कामयाब रहा।

गॉव का नाम सन् 1973 मे किया। दस साल हो गये, हम एक साथ बडे मजे मे काम कर रहे है। वे हमारे साथ खुश है, हम उनके।"

(साक्षात्कार, नाट्य शोध सस्थान, 1984)

इसी प्रसग मे हबीब तनवीर ने उन कार्यशालाओ की चर्चा की जो उन्होने आठवे दशक मे की। पहली नाचा वर्कशाप थी जो उन्होने सन् 1973 मे की। नाचा छत्तीसगढ का एक लोकनाट्य रूप है। रायपुर मे नाचा के करीब सौ कलाकारो के साथ एक महीने तक काम किया। इस वर्कशाप के दौरान लोक कलाकारो द्वारा किया जाने वाला मेकअप तथा सही प्रामाणिक वेशभूषा और गहनो को लेकर भी खोज-बीन चालू रही। आम तौर पर नाचा मे इन सबको विशेष महत्व नही दिया जाता। वर्कशाप के बाद 'गॉव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' का मचन हुआ जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसका प्रदर्शन छत्तीसगढ के गॉवो मे घूमघूमकर किया गया, खूब लोकप्रिय हुआ। उस जमाने मे सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक-निर्माता श्याम बेनेगल भी इस ओर आकृष्ट हुए और हबीब ने एक और वर्कशाप कर डाली गणवानी मे। गणवानी छत्तीसगढ की एक और शैली है जिसमे महाभारत प्रस्तुत करते है। उस समय सैटेलाइट का एक्सपेरिमेट हो रहा था। हबीब तनवीर को यूनिसेफ के लिए छोटी-छोटी फिल्मे बनाने का काम मिला। छत्तीसगढ क्षेत्र मे प्रचलित कहावतो, कहानियो, निरर्थक कविताओ, बच्चो की कविताओ आदि को लेकर उन्होने आठ-आठ, दस-दस मिनिट की ढेरो फिल्मे बना डाली। इस सारे काम मे श्याम बेनेगल साथ थे। उन्होने इन फिल्मो के साथ ही नया थियेटर के काम को लेकर एक डाक्यूमेटरी बनाना शुरू किया। ढेरो हिस्से फिल्माये और वे शायद उनके पास पडे भी हो पर दुर्भाग्य कि फिल्म नही बन पायी अन्यथा वह नया थियेटर के काम का बडा महत्वपूर्ण दस्तावेज होता।

'गाव का नाम' के बाद हबीब की दूसरी महत्वपूर्ण प्रस्तुति थी 'चरनदास चोर' लेकिन उसकी चर्चा के पहिले उन प्रस्तुतियो की चर्चा जो उन्होने सन् 1959 से 1975 के बीच की। सबसे पहले मोलियर का फार्स 'दी बुर्जुआ जेटलमैन'। भारतीय रूपान्तर 'मिर्जा शोहरत बेग, सन् 1959 मे जामिया मिलिया के लिए किया। रूपातर और निर्देशन हबीब तनवीर का था। इसे ही सन् 1960 मे नया थियेटर के लिए किया। मुख्य भूमिका मे

थे मजीत, बाद मे हबीब वह रोल करने लगे। सन् 1981 मे इसे आइ० आइ० टी० के लडको के साथ किया। अब इसका नाम 'लाला शोहरत राय' हो गया था। इसके अनेक शो बाद मे नया थियेटर के लिए हुए। हेमा सहाय इसमे नयी-नयी आयी थी। बाद मे छत्तीसगढी कलाकारो के साथ भी यह खेला गया, गोविन्दराम इसमे मुख्य भूमिका मे थे। 'लाला शोहरत राय' के एक प्रदर्शन के दौरान सन् 1982 मे कलकत्ता मे एक बडी अप्रिय घटना हुई। सुबह का रिहर्सल खत्म करके ये लोग नीचे उतरे। सडक पर एक भीख मागनेवाला अपनी लडकी के साथ गाते हुए जा रहा था। इन लोगो को उनके कठस्वर ने खीचा। उसे कला मन्दिर के गेट के भीतर बुलाकर हबीब वगैरह गाना सुनने लगे। दरबानो ने इस पर आपत्ति की। हबीब को आपत्तिवाली कोई बात ही नही समझ मे आयी। आम आदमी का और ऊपर से एक कलाकार का यह अपमान उन्हे बहुत नागवार गुजरा। कहा-सुनी हो गयी जबरदस्त। शाम को हबीब ने प्रदर्शन तो किया पर उसके पहले तकरीर की, अपना विरोध दर्ज किया और तै किया कि आगे से वे कभी कलामन्दिर के मच पर नाटक नही करेगे। कलकत्ता के दर्शको से उन्हे बहुत प्रेम मिलता है लेकिन इस अप्रिय घटना ने उनके मन मे कडुआहट पैदा की जो आज तक बरकार है।

इसके बाद क्रम शुरू हुआ हिन्दी से इतर भाषाजो मे नाटक करने का। सन् 1962 से 1965-66 के बीच हबीब एक के बाद एक उर्दू और अग्रेजी मे नाटक करते रहे। 'रूस्तम और सोहराब' (1960 · आगा हश्र काश्मीरी का उर्दू नाटक), 'दी गुड परसन आफ सेतजुआन' (1962 · ब्रेश्ट), 'दी सिगनेट रिग आफ राक्षस' (1969 : विशाखदत्त), 'दी शू-मेकर्स प्राडिजस वाइफ' (1965 लोर्का), 'दी इम्पारटेम आफ बीइग अरनेस्ट' (1965 आस्कर वाइल्ड), 'दी टेमिग आफ दी श्रू' (1969 शेक्सपियर) और 'सरवेंट आफ टू मास्टर्स (1969 गोल्डिनी)। 'सोहराब और रुस्तम' मे मजीत मुख्य भूमिका मे थे। अग्रेजी की सभी प्रस्तुतिया कालेजो के लिए या ट्रेनिग कैम्पो के दौरान की गयी। 'गुड परसन ऑफ सेतजुआन' शिक्षा मत्रालय के ड्रामा टीचर्स कैम्प के दौरान किया गया। इसमे सुषमा सेठ गुड वोमन, मोनिका तनवीर प्रीस्ट और हबीब कारपेट बेचनेवाले बने। 'सिगनेट रिग आफ राक्षस' मे हबीब ने पहली बार कुचीपुडी पर्दे का इस्तेमाल किया। पी० लाल के अनुवाद के साथ विलसन का नादी जोडा गया था। इसमे

चाणक्य की भूमिका मे आफताब थे, वसत कुमार भी थे। 'दी शू-मेकर्स प्राडिजस वाइफ' मेसूर-बगलोर के ड्रामा टीचर्स कैम्प मे किया गया था जिसमे शकर पिल्लई सहयोगी थे। अनीता सील मुख्य भूमिका मे थी। 'दी इम्पारटेंस आफ बीइग अरनेस्ट', 'दी टेमिग आफ दी श्रू' और 'सरवेंट आफ टू मास्टर्स' दिल्ली मे किये गये। इनमे राजीव सेठी, मारग्रेट गर्चे, सीलिया गोरे बूथ, सुषमा सेठ, रोशन और कबीर सेठ वगैरह ने अभिनय किया।

अग्रेजी नाटको का दौर जल्दी ही समाप्त हो गया और हबीब फिर लौट आये अपनी धरती की ओर, शुरू हुए उर्दू हिन्दी, छत्तीसगढी के नाटक। सन् 1968 मे गालिब के जीवन पर आधारित नाटक किया 'मेरे बाद'। गालिब की शताब्दी के अवसर पर उनके जीवन से सम्बन्धित एक नाटक तैयार करने का प्रस्ताव गालिब कमेटी की ओर से आया। प्रस्तुति के लिए हबीब को पाच हजार रुपये मिलनेवाले थे। हबीब जुट गये नाटक लिखने मे पर काम आसान न था। ऐयाश और सफल शायर गालिब जितना हबीब के निकट थे उससे कही निकट थे तनहा गालिब, अपमानित गालिब, ट्रैजिक गालिब। उन्होने उसी ढग पर नाटक लिखा। पर न नाटक को लिखने का पूरा समय मिला न तैयार करने का। प्रदर्शन चला साढे तीन घटे तक, अत तक वह रहे जिनमे धीरज असीम था या जो इष्ट-मित्र थे। स्वय हबीब के शब्दो मे 'इट वाज ए स्पेक्टैकुलर फ्लॉप'।

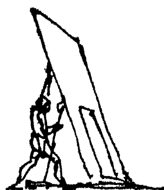
यद्यपि गालिब की प्रस्तुति सफल नही रही तथापि कई दृष्टियो मे महत्व-पूर्ण थी। पहली तो इसकी भाषा। इस नाटक को लिखने के लिए उन्होने रतननाथ दर सरशार के चार जिल्द वाले उपन्यास 'फसाने-आजाद' का खूब पारायण किया। हबीब के अनुसार सरशार द्वारा इस्तेमाल की गयी उर्दू का सानी नही। गालिब मे उन्होने फसाने आजाद की भाषा को ही अपना आदर्श बनाया। लोगो की नजर मे हबीब द्वारा इस्तेमाल की गयी उर्दू मे सबसे बेहतर उर्दू गालिब मे देखने को मिलती है। दूसरी खास बात कि एक-दो गजल के अलावा उन्होने गालिब की गजलो को पढा, गाया या गवाया नही। उनकी दृढ मान्यता है कि जब गजल गायी जाती है और उस पर वाहवाही मिलती है तो उसका कारण गजल का मतलब उतना नही होता जितना उसका सगीत। लोग काफिया मिलने पर वाह-वाह करते है, गायकी

पर झूमते है पर अधिकतर वे गजल के अर्थ की बारीकी से बेवाकिफ रहते है। इसलिए उन्होने नाटक मे गजले पढी ताकि उनका अर्थ लोगो तक पहुच सके। इसी प्रसग मे उन्होने यह भी कहा कि—"गजल या कविता पढना और उसके अर्थ को, मर्म को श्रोताओ तक पहुचाना आसान काम नही। यह काम एक ऐक्टर बहुत अच्छी तरह कर सकता है। स्वय शायर तो बहुत बार बहुत खराब पढते है, न उनकी आवाज अच्छी होती है न पढने का ढग।" ऐक्टर होने के नाते, एक लेखक होने के नाते और गालिब के भक्त होने के नाते उन्होने बिना सगीत की सहायता के गालिब के दुख को, दर्द को, चाहत को दर्शको तक पहुचाने की कोशिश की। दुख की बात है कि हडबडी मे तैयार करने के कारण प्रस्तुति असफल रही। इसे फिर से करने की तमन्ना आज भी उनके मन मे है पर वह शायद ही पूरी हो पाये। बोले—"वो ऐक्टर कहा है जो टिपिकली दिल्ली की बेहतरीन उर्दू बोल सके।" गालिब के लेखन की बात करते-करते हबीब ने यह भी बतलाया कि गालिब जितने अच्छे शायर थे उतने ही अच्छे गद्य लेखक भी थे। उन्होने कहा—'मैने भी महसूस किया और दूसरे सीनियर लोगो ने भी कहा कि जो शायरी करता है वह प्रोज भी अच्छा लिखेगा ही। यह बात मुझे गालिब मे नजर आयी। मैं उनके प्रोज और पोएट्री दोनो का कायल हूँ।"

ऐक्टरो की ट्रेनिग और उसके लिए इस्तेमाल की जानेवाली भाषा के सम्बन्ध मे हबीब बहुत ही स्पष्ट है—

"भाषा का अभिनय के साथ बडा गहरा सम्बन्ध होता है और कोई ऐक्टर एक दूसरी भाषा मे जो उसकी मातृभाषा नही है—अच्छा अभिनय कर ही नही सकता। बात केवल सवाद रटकर बोल लेने की तो नही है, भाषा का उतार-चढाव, उच्चारण मे स्ट्रेस, वजन सब सही न हो तो सुनने मे बहुत तकलीफ होती है। मै तो भाषा के बारे मे बहुत पर्टिकुलर हूँ। जो जुबान बोलो सही बोलो। हिन्दी बोलो तो शुद्ध बोलो, उर्दू बोलो तो सही-सही। मै खुद इतनी अच्छी अग्रेजी जानता हूँ, बोलता हूँ पर उसमे वह ताकत कहा जो मेरी उर्दू मे होती है। हर भाषा का अपना एक रिदम होता है, उसे पकडना आसान नहीं। वह तो मातृभाषा मे ही सही रूप मे आता है। इतना ही नही हमारा हाथ हिलाना, सिर हिलाना भी अलग-अलग ढग से होता है और वह अपनी भाषा के साथ बडे स्वाभाविक

रूप मे आता है। एक साउथ इडियन का सिर हिलाकर हा कहना, हमारे लिए ना हो सकता है। बात केवल लबोलहजा और तलफ्फुज की नही है बल्कि सारे सस्कार, तमाम ईथोज उठने-बैठने, चलने-फिरने, खाने-पीने की होती है, पूरे कल्चर की होती है। फिर हर भाषा मे कुछ ध्वनियाँ उच्चारण मे ऐसी होती है जिन्हे सही-सही उतार पाना कठिन होता है। नयी ध्वनि का उच्चारण न इधर का रहता है न उधर का। अग्रेजी के "ह" का उच्चारण हम हिन्दुस्तानियो के लिए बहुत कठिन है, उर्दू के नुक्तो का उच्चारण उर्दू न बोलनेवालो के लिए भी उतना ही कठिन होता है। ऐसी तमाम मिसाले दी जा सकती है। मेरे कहने का मतलब यह कि ऐक्टर की ट्रेनिग उसकी अपनी मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए। एन० एस० डी० की ट्रेनिग के खिलाफ मेरा यह जोरदार मत है कि केवल हिन्दी के माध्यम से ट्रेनिग पाने के कारण अहिन्दी भाषा-भाषी ऐक्टरो का बडा नुकसान होता है। वे हिन्दी ठीक से बोल नही पाते और हिन्दी बोलने के चक्कर मे, उसका अभ्यास करने के चक्कर मे उनकी अपनी भाषा का भी बारह बज जाता है। मै इसे बहुत अहमियत देता हूँ।"



सन् 1970 मे हबीब तनवीर ने 'आगरा बाजार' का नये सिरे से मचन किया। मूलत सन् 1954 मे प्रस्तुत आगरा बाजार ने तब भी दर्शको का मनोरजन किया था, अब भी किया। प्रतिक्रियाए मिलती-जुलती ही थी क्योकि नाटक की प्रस्तुति आदि का स्वरूप पुराना वाला ही था, केवल कुछ कलाकार बदल गये थे। 'आगरा बाजार' के सम्बन्ध मे इनैक्ट 39 मे (मार्च, 1970) प्रकाशित रजिन्दर पाल की समीक्षा महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार 'आगरा बाजार' मे वह सब कुछ था जो आम तौर पर हबीब तनवीर के नाटको मे हुआ करता है। उन्होने यह भी कहा कि हबीब की कल्पना बहुत बार आदमी की पकड के बाहर होती है और उनकी महत्वाकाक्षा इसको, उसको, उससे परे के उसको—सबको एक साथ समेट लेना चाहती है। हबीब के सवादो के बिम्बो और साहित्यिक तत्वो की उन्होने प्रशसा की और यह भी कहा कि कथा और प्रस्तुति हर दृष्टि से यह आम आदमी का नाटक है और इसे शहर-शहर गाँव-गाँव लोगो तक पहुचना चाहिए।

आश्चर्य की बात है कि सन् 1989 मे जब उन्होने आगरा बाजार की तीसरी प्रस्तुति की तब भी वह चर्चा का विषय रही और दर्शको ने उसके विभिन्न तत्वो के सौंदर्य को अलग-अलग अनुभव किया, उनको सराहा या उनकी आलोचना की। नाटकीय तत्वो की दुर्बलता के बावजूद नजीर अकबराबादी की नज्मो की खूबसूरती और स्वय हबीब के सवादो की खूबसूरती, उनके द्वारा रचित वातावरण, बाजार का माहौल, ककडीवाले, तरबूजवाले और लड्डूवाले की नोक-झोक, बदर का नाच, सडक पर गानेवालो द्वारा तत्कालीन—और साथ ही समकालीन—स्थितियो पर टीका-टिप्पणी, बाईजी का कोठा आदि सबने अलग-अलग दर्शको का ध्यान आकृष्ट किया। नन्ही कपूर के अनुसार "आगरा बाजार मे अनेकता मे एकता का तत्व ज़ोरदार और स्पष्ट शब्दो मे उभरकर आता है—स्पष्टता ऐसी जो कटग्लास जैसी साफ है लेकिन जिसकी धार बरकरार है।" और यह भी कि "हर रगप्रेमी को इसे देखना चाहिए (टाइम्स आफ इडिया, बम्बई 21 11 89)।" साथ ही इसकी कमियो की ओर भी समीक्षको ने इगित किया। आनद लाल के अनुसार "किसी केद्रीय बिदु या निश्चित दिशा के अभाव मे नाटक उस ऊँचाई को नही पा सका जो अभीष्ट था।" (दी टेलिग्राफ, कलकत्ता, 11.12.1989)।

इसी दौरान नवबर सन् 1964 मे जन्म हुआ बेटी का। नाम रखा नगीन। नगीन के बारे मे चर्चा बाद मे विस्तार से की जायेगी। हॉ, इस बीच की दो घटनाए उल्लेखनीय है। सन् 1969 मे सगीत नाटक अकादमी ने हबीब को निर्देशन का पुरस्कार प्रदान किया और सन् 1672 मे ये छ वर्षो के लिए राज्यसभा के सदस्य चुने गये। उस दिन का किस्सा बडा मजेदार रहा। ये लोग उलझे थे एक केस मे। काउटर पर बैठनेवाले एक लडके ने रुपये मार लिये थे। उसकी रिपोर्ट लिखाई पुलिस मे पर परेशानी कि साबित कैसे करे। उधर सोवियत इनफारमेशन सर्विस वालो ने इन्हे छुट्टी दे दी थी कोई दो सप्ताह पहले। कुछ समय से ये वहॉ नौकरी कर रहे थे पर उन्हे छटनी करनी थी। चपेट मे आ गये हबीब। मोनिका जी बेहद परेशान। नोटिस दे दिया कि मै तुम्हे तलाक दे दूगी। खैर, इन्ही सब परेशानियो के बीच एक दिन एक पुलिसवाले ने आकर एक नबर दिया कि इस नबर पर बात कर लीजिए। अब आगे का किस्सा सुनिये हबीब के शब्दो मे—

"मैने फोन किया तो मुझसे कहा गया कि मै राज्यसभा का सदस्य चुना गया हूँ, मै राजी हूँ न ? मैने कहा—मै सोचकर बतलाता हूँ। उन्होने कहा—सोचने का समय नही है। मैने पूछा—इसमे मेरी लायबिलिटी क्या है ? वे बोले—पहले हॉ कीजिए फिर सब पता चल जायेगा। सो मैने हा कर दी। असल मे उस समय मैं परेशान था। दो हफ्ता पहले सोवियत इनफारमेशन डिपार्टमेट से मुझे निकाल दिया गया था—छटनी। सन् 1968 से अब तक चार साल मैंने वहॉ काम किया। मेरे खिलाफ एक तो ये था कि मै कभी पकचुअल नहीं था। वहॉ टावर पर बैठा एक आदमी देखता था कि कौन गेट क्रास कर रहा है समय से। देर होने से नोट कर लेता था। वे कहते थे समय से आइए। वैसे लोग समय से आ जाते थे वहॉ पर काम नही करते थे। चाय पीते थे, गपशप करते थे और चले जाते थे। मै दस बजे रात तक बैठता था। ड्रामे कर रहा था, रिव्यू लिख रहा था। मेरा आउट-पुट सालिड था पर हा, समय से कभी नही

पहुचता था। घर भी कभी समय से नही लौटता था। और मजा देखिए कि मुझे निकाला पर जब '72 मे मै राज्य सभा का मेम्बर चुना गया तो मुझे उन्होने दावत दी। खूब खिलाया-पिलाया। वोडका इतनी पिला दी कि होश नही रहा।

"इसी सिलसिले मे एक और किस्सा सुनिए। राज्यसभा का मेम्बर चुने जाने के बाद एक बार इदिरा गाधी ने राष्ट्रपति भवन मे बैंक्वेट पर बुलाया। लिखा था ड्रेस फारमल। गर्मी के दिन थे, ऊनी शेरवानी पहनी नही जा सकती थी। सफेद शेरवानी सिलवायी, पहनकर पहुचे बैंक्वेट मे। पेटर हुसैन भी थे। अब हम दोनो एक दूसरे को देखकर हसे। उन्होने भी नयी शेरवानी सिलवायी थी ओर हम दोनो की ही शेरवानिया इल फिटिग थी, हम दोनो अटपटा फील कर रहे थे।"

'गाव का नाम' के बाद सन् 1974 मे हबीब तनवीर ने बरौदी, राजस्थान मे रूपायन के तत्वावधान मे एक वर्कशाप की। राजस्थान की एक लोककथा 'ठाकुर रो रूमनो' को वर्कशाप के लिए चुना ओर वहा की खयाल शैली मे इसे तैयार करवाया। तैयार नाटक का नाम हुआ 'ठाकुर प्रिथिपाल सिह'। अलग-अलग क्षेत्रो मे वर्कशाप करके हबीब ने वहा के कलाकारो को कुछ प्रदान किया तो स्वय कुछ पाया भी, स्थानीय लोकरूपो को उन्होने देखा, समझा, उनसे धुने सीखी और जब जो मौजू लगा उसका अपने बाद के नाटको मे इस्तेमाल किया।

और इसके बाद 'चरनदास चोर' (1975) जिसने अपनी ताजगी और रोचकता के कारण पूरे देश मे तहलका मचा दिया। चरनदास चोर नाटक की कहानी, उसके नाट्य रूपातर और मचन की लबी कहानी है। हम देख चुके है कि कैसे हबीब धीरे-धीरे लोकनाट्यो विशेषकर मध्यप्रदेश के लोक-नृत्यो, लोकनाट्यो, की ओर आकृष्ट हो रहे थे। उन्होने मध्यप्रदेश के एक लोकनाट्य रूप 'नाचा' को लेकर एक वर्कशाप की थी। करीब सौ कलाकारो ने उसमे भाग लिया। उस वर्कशाप मे नाचा मे किये जानेवाले मेकअप और पहने जानेवाले गहने-कपडो के बारे मे प्रामाणिक जानकारी हासिल करने का प्रयत्न भी किया गया। इसके बाद सन् 1974 मे राजस्थान मे राजस्थानी कलाकारो को लेकर राजस्थानी भाषा मे एक नाटक तैयार किया जिसकी चर्चा की जा चुकी है। कहानी एक जगह से शुरू होकर कई गाव होती हुई जोधपुर पहुचती थी। विजयदान देथा ने कहानी का नाम रखा था 'चोर की सच्चाई' हबीब ने उसे नाम दिया 'ठाकुर पृथिपाल सिह'। ऑपेरा शैली के

कारण नाटक वहा जमा पर उतना नही। लेकिन बाद मे विजयदान का चोर-वाला क़िस्सा पनपने लगा। दिनभर वह आगे बढता रहा। भिलाई मे वर्कशाप के दौरान राजस्थान मे तैयार किये गये स्किट होते रहे। सारी रात करीब बारह हजार लोग बैठे नाटक देखते रहे। सुबह हो गयी, लोग बैठे ही रहे। दर्शको मे बहुत मे पथी भी शामिल थे। पथी सतनामियो का एक सेक्ट होता है, इमके मानने वाले चमका जाति के लोग होते है अर्थात् चमार। ये कबीरदास को अपना गुरु मानते है और इनका मत्र-वाक्य होता है सत्य ही ईश्वर है। तो हबीब ने सोचा सैकडो पथी बैठे है क्यो न इनके सामने चोरवाली कहानी रखी जाय क्योंकि वह इनके दर्शन के अनुकूल थी। कहानी का चोर चोरी तो करता है पर झूठ नही बोलता। चोरी का धन भी वह जरूरतमदो के बीच बाट देता है। यद्यपि नाटक बहुत कच्चा था लेकिन इतने बडे दर्शक-समूह और विशेषकर पथियो को सामने पाकर हबीब उन्हे वह नाटक दिखलाने का लोभ सवरण नही कर सके। ऐलान किया कि नाटक कच्चा है, कुल दो दिन उस पर काम किया है फिर भी आपको दिखलाना चाहते है क्योकि आपके विचारो और सिद्धातो मे फिट बैठता है। एकाध ऐक्टर को ठीक किया, बीच मे बैठकर गाने को भी ठीक किया और करीब 50 मिनिट के चोर-चोर नाटक को दर्शको को दिखला दिया। वह कच्चा नाटक भी बहुत पसद किया गया। श्याम बेनेगल साथ थे। उन्होने देखा तो कहा इसकी तो फिल्म बनायेगे। हबीब ने झट स्क्रीन प्ले लिख डाला। स्क्रीन प्ले मे कुछ जोडना जरूरी हो गया तो एक दृश्य लिखा गया चरनदास की मृत्यु के बाद का। मरने के बाद भी चरनदास अपनी हरकत से बाज नही आता और चित्रगुप्त के खाते से अपने नाम की चोरी कर लेता है। चित्रगुप्त परेशान। कहते है—तुम्हारा नाम तो खाते मे नही, तुम कैसे आ गये ? चोरी पकडी न जाये इसलिए चरनदास अपने नाम का पान बनाकर खा जाता है। तब तक अपने भैसे पर यमराज पहुचते है तो यह उनके भैसे पर सवार हो भाग जाता है और स्वर्ग के पहरेदार इस पर खूब खुश होते है। फिल्म मे चरनदास का एक बेईमान दोस्त था, एक मुकदमा वगैरह भी होता था, हबीब जज बनते थे, बहुत मनोरजक और हसानेवाला दृश्य बनता था। फिल्म मे जोडे गये ये दृश्य बाद मे नाटक मे शामिल किये जाने लगे लेकिन कुछ समय बाद हबीब को लगा कि इससे नाटक टूटता जा रहा है, इस तरह जोडे गये दृश्य नाटक को टुकडे-टुकडे मे बाट दे रहे है। उन्होने यह भी अनुभव किया कि फिल्म मे जितना कुछ दिखलाना जरूरी होता है उतना मच पर नही।

मच पर बहुत कुछ की सूचनाए देकर कथा को आगे बढा दिया जा सकता है। फिल्म के लिए विशेष रूप से जोडे गये दृश्यो मे से अधिकाश को उन्होने बाद दे दिया, नाटक बहुत कुछ अपने मूल रूप मे वापिस आ गया, नाम रखा अमर दास लेकिन अमरदास सतनामियो के एक गुरु थे अत उनके आग्रह पर नाटक का नाम बदला गया और वह अमरदास के बदले 'चरनदास चोर' हो गया। और यह 'चरनदास चोर' नाटक पिछले पद्रह वर्षो से देश-विदेश मे सफलतापूर्वक खेला जा रहा है, सैकडो से अधिक प्रदर्शन हो चुके है, जहाँ भी जब भी खेला जाता है, इसे दर्शको की अकुठ प्रशसा मिलती है। अब हम 'चरनदास चोर' की सफलता के कारणो पर थोडा विस्तार से विचार करे।

पिछले दस-पद्रह वर्षो मे जिस टोटल थियेटर की बात उठते-बैठते बराबर की जा रही है, जिसकी आवश्यकता पर बडे जोरो से बल दिया जा रहा है, सभवत चरनदास चोर उसका एक सबल नमूना था। परम्परागत भारतीय नाटक तो सगीत-नृत्य से समन्वित होते है, चाहे वह शास्त्रीय हो या लोक। शहरी आधुनिक रगमच पर भी सगीत-नृत्य को समन्वित करने या जोडने के दौर आते रहते है। उन्नीसवी शताब्दी के चौथे-पाचवे दशक से पूरे देश मे शहरी नाटको का चलन प्रारभ हुआ—कही दस-बीस साल पहले कही दस-बीस साल बाद। प्रारम्भिक वर्षों मे सगीत और नृत्य नाटक का अभिन्न अग होते थे, यह परम्परा बीसवी सदी के तीसरे-चौथे दशक तक चली। पाचवे दशक तक आते-आते नाचने-गाने के प्रति एक प्रकार के ताच्छिल्य का भाव लोगो मे घर करने लगा क्योकि यह काम पेशेवर स्त्रियो के साथ विशेष रूप से जुडा था। आधुनिक युग की गद्यात्मकता (prosaicness), तथ्यात्मकता (matter to the fact) और मनोवैज्ञानिक चित्रण के आग्रह ने लेखको एव निर्देशको को नाच-गाने के वर्जन के लिए प्रेरित किया और इस प्रकार पाचवे से सातवे दशक तक लिखे और खेले गये नाटको मे नाच-गाना वर्जित-सा हो गया। लेकिन इस वर्जन के फलस्वरूप नाटक शुष्क होने लगा, आम दर्शक नाटको के प्रति उदासीन होने लगे, ऐसी कृतियो से उनका मनोरजन नही होता था। मनोरजन जरूरी था और मनोरजन के लिए जरूरी था नाच-गाना और हास्य। दर्शक उन कृतियो के प्रति सहज स्वाभाविक रूप से आकृष्ट होने लगे जिनमे ये तत्व होते थे। सन् 1970 तक आते-आते यह बात बहुत साफ होने लगी थी। 'चरनदास चोर' इन सारे तत्वो से समन्वित था, वह दर्शको का मनोरजन करता था, उन्हे नाच-गाने के रस का आनद देता था,

उन्हे हसाता था, उनके आसपास की दुनिया की सच्चाई को उनके सामने खोलकर रखता था, धर्म, समाज और राजनीति के क्षेत्र मे दिखलाई पडनेवाली विसगतियो से उनका साक्षात्कार कराता था, इस सबमे वह डूबकर अपने को भूलकर विशुद्ध आनद की प्राप्ति करता था। और यह सब बिना किसी अश्लीलता, नग्नता या भोडेपन के होता था। यदि कुछ भोडापन कही था भी तो ग्रामीण जीवन और अभिव्यक्ति का सहज अग था, हसाने या गुदगुदाने के लिए विशेष रूप से आरोपित क्रिया-कलाप नही। यह प्रक्रिया पिछले पद्रह वर्षों से चल रही है, 'चरनदास चोर' जितना सफल और लोकप्रिय सन् 1975 मे था उतना ही सन् 1993 में है।

चरनदास की सफलता का कारण केवल उपर्युक्त तत्वो का समन्वय ही नही था, कारण था लोक कलाकारो द्वारा उपर्युक्त तत्वो का सप्रेषण। जिस शक्ति और ऊर्जा, सहज नमनीयता (flexibility), तत्काल सवाद बनाने या परिस्थिति के अनुकूल आचरण करने की सहजता का उन्होने परिचय दिया, वह अद्भुत था। उसके अभाव मे नाटक क्या बनता, कितना लोकप्रिय होता कहना कठिन है।

चरनदास चोर' का कथानक एक साथ ही वास्तविक भी है और काल्पनिक भी, परी-कथा की तरह कहानी की परते खुलती चलती है। चरनदास एक चोर है जिसने एक साधु के सामने प्रतिज्ञा की थी कि वह कभी झूठ नही बोलेगा। उसने किसी अवसर पर यह भी प्रतिज्ञा की थी कि न हाथी पर बैठेगा न सोने की थाली मे खायेगा और न ही सिहासन पर विराजेगा। चोर होने के बावजूद वह लोगो का प्रेम और श्रद्धा प्राप्त करता है क्योकि चोरी के धन को वह गरीबो और जरूरतमदो के बीच बाट देता है। लेकिन अपनी झूठ न बोलने की प्रतिज्ञा के कारण परेशानियो मे पडता रहता है और उसकी परेशानिया दर्शको को हसाती रहती है। विभिन्न घटनाओ, स्थितियो के बीच से आगे बढती हुई कथा कही आज के समाज की हलकी चुटकी लेती है, कही उसे करारा तमाचा लगाती है, कही उस पर तीखा व्यग्य करती है तो कही पलभर रुककर सोचने को मजबूर करती है। अत के 10 मिनिट पहले तक विशुद्ध हास्य-व्यग्यवाली कृति अचानक एक मोड लेती है। अपनी प्रतिज्ञाओ के कारण रानी के प्रस्ताव को अस्वीकार करने के कारण चरनदास को मृत्यु का वरण करना होता है—कामेडी अचानक ट्रेजेडी बन

जाती है, नाटक सुखात की ओर बढते-बढते अचानक दुखात मे रूपातरित हो जाता है। नाट्यकार हबीब तनवीर ने बडी कुशलतापूर्वक कथानक को गूथा है, गढा है और अतिम मोड़ दिया है। निर्देशक हबीब तनवीर ने लिखित नाटक की ऊर्जा को उपयुक्त नाच-गाने एव गतियो तथा अभिनय के माध्यम से अत्यत सशक्त कृति के रूप मे मचित किया, लोक कलाकारो एव लोकतत्वो के समन्वय द्वारा उसे न केवल समृद्ध किया वरन् प्राणवत बनाया। सगीत परिकल्पक हबीब तनवीर ने उपयुक्त लोक धुनो और लय-छद को चुना और उनसे अपनी प्रस्तुति को प्राणवत बनाया। अभिनेता हबीब तनवीर ने हवलदार के रूप मे एक कुशल कामदी कलाकार का परिचय दिया, प्रस्तुति को रोचक और गतिशील बनाया। यद्यपि यह सही है कि 'चरनदास चोर' की सफलता का बडा श्रेय चरनदास की भूमिका मे काम करने वाले कलाकार गोविन्द राम और बाद मे उसी भूमिका मे काम करनेवाले कलाकारो मदनलाल तथा दीपक तिवारी और रानी की भूमिका मे अभिनय करनेवाली किवदती (legendry) कलाकार फिदाबाई और बाद मे पूनम बाई को है तथापि सशक्त, रोचक नाट्यालेख, कल्पनाशील निर्देशन एव प्रस्तुति, लोकधुनो और लयो के समन्वय ने उनके लिए उपयुक्त स्थितियो की सृष्टि की थी, उपयुक्त वातावरण प्रदान किया था। सच पूछा जाय तो चरनदास की सफलता का कारण इन सब तत्वो का कुशल सयोजन एव समन्वय था जिसने समीक्षको द्वारा इसे 'आधुनिक युग का गौरवमय ग्रथ (क्लासिक)' की सज्ञा से भूषित किया है। अवश्य ही दृश्यकाव्य के रूप मे यह गौरव केवल ग्रथ तक नही सीमित है, उसका विस्तार प्रस्तुति तक है। हम चाहे तो इसे गौरव-प्रस्तुति कह सकते है।

गत पद्रह वर्षो मे 'चरनदास चोर' के न जाने कितने प्रदशन हो चुके है, देश के विभिन्न अचलो मे इसका सफलतापूर्वक मचन किया जा चुका है, विदेश के अनेक शहरो मे यह अपनी ही नही हमारे देश की जयदुदुभी बजा चुका है। बिना पढे-लिखे गाँव से रहनेवाले लोककलाकारो ने सर्वत्र अपनी शक्ति, क्षमता और ऊर्जा से दर्शको को मुग्ध किया है, यह प्रमाणित किया है कि कलाकार के लिए रूपसौदर्य उपयोगी हो सकता है लेकिन अनिवार्य नही (हबीब के साथ काम करनवाले अधिकाश कलाकार रूपवान नही है) और कलात्मक सृजन केवल शहरवालो की बपौती नही। उन्होने, साथ ही हबीब ने भी, यह प्रमाणित किया कि हमे अपने देश की ऊर्जा को पहचानना चाहिए, यथासभव

शहरी और ग्रामीण पार्थक्य को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए, दोनो के बीच समन्वय स्थापित करने की दिशा मे काम करना चाहिए।

'चरनदास चोर, की सफलता ने हबीब को नया बल दिया नही तो सन् 1970 से 1973 के बीच का समय हबीब के लिए बडा कष्टदायक था। वे जो कुछ करते अधिकतर असफल रहता। करीब 15 वर्षों बाद कलकत्ता मे टेलीग्राफ के लिए सुस्मिता गुप्ता से बात करते हुए उन्होने कहा—

"शुरू मे सब कुछ आसान नही था। सच्चाई तो यह हे कि सन् 1970 से 1973 के बीच का समय बडा कष्टदायक था। मेरे सारे प्रयत्न असफल हो रहे थे क्योंकि मुझमे लोगो को समझने की शक्ति की कमी थी। मै छत्तीसगढ क्षेत्र मे काम कर रहा था, उस अचल और वहाँ की भाषा स परिचित था लेकिन वहाँ के लोगो का विश्वास नही जीत पाया था। गाववाले शहरी लोगो से बहुत डरते है और यह तब मेरी समझ मे आया जब उनसे बातचीत करना, उनके साथ आदान-प्रदान करना मेरे लिए अनिवार्य हो गया। मैने उनसे मेरे साथ-साथ कहानी और मूवमेंट गढने के लिए कहा और तब वे धीरे-धीरे खुलने लगे। उसके बाद से मैं भी उनके साथ विकसित होने लगा, मुझे भी थियेटर के नये पाठ पढने को मिले।" (दी टेलिग्राफ, कलकत्ता, 5 4 1987)। इसी बातचीत के दौरान उन्होने यह भी कहा कि—"मै देशी कला-कौशल और तौर-तरीको के पक्ष मे हूँ और ऐसा मै केवल सस्कृति के क्षेत्र मे नही वरन् कृषि, कल-कारखाने, शिक्षा सभी क्षेत्रों मे चाहता हूँ। साथ ही सस्कृति की प्रामाणिकता मे भी मेरा गहरा विश्वास है।" (दी टेलिग्राफ, कलकत्ता, 5.4 1,87)

बडे आश्चर्य की बात है कि हबीब के नया थियेटर मे सीखने-सिखाने का काम एक-तरफा नही दोतरफा था। दो पक्षो मे एक ओर थे हबीब तनवीर जो उच्च शिक्षा प्राप्त थे, जिन्होने इग्लैंड-योरोप मे थियेटर की शिक्षा प्राप्त की थी, जिन्होने वर्षों तक पश्चिम की आधुनिक रग-पद्धति का अध्ययन किया था, उन्हे देखा था और उनका उपयोग किया था। दूसरी ओर थे रायपुर जिले के छत्तीसगढ इलाके के अनपढ ग्रामीण जिनमे से कइयो ने पाठशाला का मुह भी नही देखा था, जो अपने गाव के आसपास के इलाको से बाहर नही गये

थे, जिन्हे अपने क्षेत्र के लोक नाच-गानो के अलावा और किसी प्रकार के नाच-गाने का ज्ञान नही था, जो नाटक की मचन पद्धति से सर्वथा अनभिज्ञ थे। पर ये दोनो पक्ष एक दूसरे से परिचित हुए, दोनो मे आपस मे टकराहट हुई, डरते-सहमते हुए ही दोनो ने एक दूसरे की शक्ति और क्षमता को पहचाना, परस्पर निकट आते गये और धीरे-धीरे एक दूसरे के भक्त बनते गये। हबीब द्वारा चुने गये कलाकारो मे अधिकाश नाचा लोकनृत्य के नर्तक थे अत सगीत, लय और अभिनय की उन्हे जानकारी होती थी, उनके प्रति उन्हे लगाव होता था। हाँ, वे नाटक के अभ्यस्त बिलकुल नही थे, नाटक का प्रवेश और प्रस्थान आदि उनके लिए एकदम नये थे। काफी लबे अरसे तक हबीब के साथ काम करनेवाले छत्तीसगढी या ट्राइबल जनजातियो के कलाकारो मे भुलवाराम, फिदाबाई, देवीलाल, दीपक तिवारी, शाह नवाज और पूनमबाई आदि सभी इस बात को स्वीकार करते है कि वे जो कुछ भी बन सके है, साहब की बदौलत। नया थियेटर मे लोग हबीब को साहब कहकर ही सम्बोधित करते है। नया थियेटर मे शुरू से एक पारिवारिक वातावरण जैसा बन गया है, सब एक साथ रहते है—हबीब भी। एक साथ काम करते है, एक साथ अपना सुख-दुख बाटते है। फिदाबाई के अनुसार—'हमलोग अब एक बहुत बडे परिवार के रूप मे रहते है। हम जब साहब के पास काम करने आये, हम एकदम नौसिखुआ थे, प्रवेश, प्रस्थान या अपना क्यू आने पर बोलना इन सबकी हमे कोई जानकारी नही थी। साहब से हमने बहुत कुछ सीखा है और उन्होने भी हमसे सीखा है।' देवीलाल के अनुसार—'सत्रह साल पहले जब हम नया थियेटर मे आये, हमे इस थियेटर की कोई जानकारी नही थी। हम तो नाचा पार्टी के कलाकार थे, गाँव-गाँव घूम-घूमकर नवरात्री वगैरह पर नाच-गाना करते थे। हमलोगो की शैली माडाई कही जाती है और वह बगाल की जात्रा से मिलती-जुलती है। नया थियेटर मे आने के बाद हमे बहुत तरह के नाटको की जानकारी मिली और उन्हे करके हमे सुख मिला।' भुलवाराम ने पुराने दिनो की याद करते हुए एक बार कहा—'शुरू-शुरू मे हमे बडा अटपटा लगता था साहब के साथ। वे बहुत कडे थे और बडी जल्दी गुस्सा हो जाया करते थे। अब स्थिति बहुत बदल गयी है। अब तो यदि वे हमे डाटते है तो हम भी बदले मे उन्हे घुडक देते है लेकिन इससे आपस मे कोई मनमुटाव नही होता।' नया थियेटर के अपेक्षाकृत कम-उम्र कलाकार चारुदत्त के अनुसार—'बेसिक आइडिया साहब का रहता है लेकिन फिर वे हमे छोड़ देते है। असल मे वे शुरू मे नाटक और

आगरा बाजार

की

मंच-सज्जा

प्रस्तुति 1989

छायाचित्र-

संगीत नाटक अकादमी



हबीब तनवीर/आगरा बाजार 1970 की प्रस्तुति

छायाचित्र : संगीत नाटक अकादमी

बिज्जी, लल्लूराम साहू, गोविन्दराम निरमलकर/आगरा बाजार 1989 की प्रस्तुति

मिट्टी की गाड़ी का एक दृश्य 1958

हबीब तनवीर/गांव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद 1973

छायाचित्र : डेविड लिडल गोविन्दराम निरमलकर और फिदाबाई/चरनदास चोर 1975

छायाचित्र : निर्मलेन्दु चैटर्जी, कलकत्ता हबीब तनवीर/चरनदास चोर 1975

'चरनदास चोर' के बाद हबीब तनवीर ने फिर एक लोककथा उठाई बहादुर कलारिन (1978)। यह कथा छत्तीसगढ के एक अचल सोरर मे प्रचलित थी जिसमे बहादुर नाम की कलारिन (शराब बेचनेवाली) राजा के प्रेम मे पडती है लेकिन राजा उसके प्रेम का प्रतिदान नही देता। उसका बेटा छछन इडिपस कामप्लेक्स के साथ बडा होता है। वह एक के बाद एक एक सौ छब्बीस औरतो से विवाह करता है मगर उन्हे छोडता चलता है। किसी भी औरत से न पटने का कारण छछन के मन मे अपनी मा के प्रति दबी काम वासना थी। जब वह बहादुर से अपनी इच्छा व्यक्त करता है तो वह सकते मे आ जाती है, बहुत क्षुब्ध होती है। पहले तो वह सारे गाँव से कहती है कि कोई छछन को पीने को एक घूट पानी भी न दे। फिर स्वय उसे कुए मे ढकेल देती है और खुद भी उसमे कूदकर आत्महत्या कर लेती है। आधुनिक युग मे व्याख्यायित इडिपस कामप्लेक्स का इस लोककथा मे समन्वय देखकर आश्चर्य होना है। इस प्रस्तुति मे हबीब ने पथी लोक कलाकारो के साथ जनजातियो के नर्तको को सम्मिलित करने का प्रयोग भी किया। मडला गाँव के ये गोड नर्तक पथी कलाकारो जैसे प्रभावपूर्ण नही रहे तथापि उन्होने बहादुर कलारिन को प्राणवान बनाया, अधिक कलरफुल बनाया। बहादुर कलारिन को सफलता का बडा श्रेय नाम भूमिका मे अभिनय करनेवाली कलाकार फिदाबाई को है। उनका दबग कठस्वर, पूरी आवाज मे गला खोलकर गायन, खडे होने की भगिमा, फुर्ती और चुस्ती सब मुग्ध करनेवाले थे। मौजमस्ती और भोगविलास को लेकर चलनेवाली कहानी अत मे आकर दुखात बन जाती है—दुखात भी ऐसी कि सबके मन को छलनी कर दे। फिदाबाई ने बडी कुशलतापूर्वक इस अश को रूपायित किया—एक औरत और एक मा या यो कहे कि एक मा को केवल एक औरत बना लेने की बेटे की इच्छा कैसे मा को तोड देती है, अपने जीवन से एकदम विमुख कर देती है इसका अत्यत प्रभावपूर्ण चित्रण बहादुर कलारिन मे फिदाबाई ने किया। यद्यपि वर्षों तक वे नया थियेटर के साथ रही और उन्होने अनेक नाटको मे मुख्य भूमिका मे अभिनय किया तथापि मेरी दृष्टि मे बहादुर कलारिन की भूमिका मे उन्होने दर्शको को जो दिया, अनुभूति की गहरायी का जो साक्षात्कार उन्होने दर्शको

को कराया वह अद्भुत था, अपूर्व था, उस अभिनय के लिए वे सदा स्मरण की जायेगी। फिदाबाई के अतिरिक्त उदयराम (राजा), बाबूदास (बहादुर का चाचा) आदि ने भी प्रभावपूर्ण अभिनय किया।

प्रस्तुति की दृष्टि से बहादुर कलारिन 'चरनदास चोर' से भिन्न थी। इसमे हबीब ने नाच का अधिक उपयोग किया, नाच के माध्यम से कहानी को आगे बढाया। जैसा कि कहा जा चुका है, इस प्रस्तुति मे ट्राइबल कलाकारो को भी लिया गया पर वे उतने सफल नही रहे तथापि प्रयोग की दृष्टि से यह एक नयी दिशा थी और उस दृष्टि से सफल थी। सगीत गगाराम मिखेत का था जिसे कोरस ने खूबसूरती से प्रस्तुत किया। नाटक मे कुछ समकालीन सकेत भी थे यथा बच्चो का अतिरिक्त लाड-दुलार और उसका समाज पर पडनेवाला कुप्रभाव लेकिन वे सकेत तक ही रह गये विशेष प्रभावपूर्ण नही बन पाये।

सन् 1980 मे हबीब तनवीर द्वारा प्रस्तुत नाटक 'सोनसागर' के सम्बन्ध मे इनैक्ट 163-164, जुलाई-अगस्त 1980 मे प्रकाशित जितेन्द्र कौशल की समीक्षा समीचीन एव सम्पूर्ण है अत. उसके हिन्दी अनुवाद को ही यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है "बहादुर कलारिन के बाद हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ की लोकशैली चदैनी की काल्पनिक नायिका चदा के रूप मे फिर एक सशक्त महिला चरित्र को प्रस्तुत किया। छत्तीसगढ की पडवानी शैली के कथागायक के महाभारत की कथा गाने की तरह चदैनी का कथागायक भी कई रातो मे अपनी कथा पूरी करता है। मुख्य कलाकार गाता है, कथा सुनाता है और नाचता है। इसके चार-पाच साथी होते है जो विभिन्न वाद्य बजाते और गायन मे मुख्य कलाकार को सहयोग देते है। पडवानी की तरह चदैनी लोकप्रिय नही है क्योकि इसमे महाभारत की कथा नहीं रहती। चदैनी की कथा लौकिक है, मौखिक है और उतनी परिचित नही अत इसमे नाच, गाना और सगीत कहानी से अधिक महत्वपूर्ण हो जाते है।

"सोनसागर प्रेमी-द्वय लोरिक और चदा की कहानी है जो छत्तीसगढ मे चदैनी और बिहार मे लोरिकायन के नाम से प्रसिद्ध है। पहला नाम नायिका

चंदा और दूसरा नायक लोरिक को महत्व देता है अतः एक ही कथा दो क्षेत्रो में दो भिन्न रूप प्राप्त करती है। चदैनी मे नायिका अधिक शक्तिशाली होकर उभरती है जबकि लोरिकायन मे लोरिक के कारनामे उसे नेता के रूप मे प्रतिष्ठित करते है।

"हबीब तनवीर का मुख्य आधार चदैनी था तथापि उन्होने उसमे बहुत अधिक सम्पादन किया था। उन्होने कहानी के ग्राम्य तत्वो को प्रमुखता दी थी, और जादू तथा अलौकिक कथाओ को छोड दिया था। सोनसागर गौरा के राजा मौहर की भैंस है जो सुनहले बछडो को जन्म देती है। एक बार वह भैंस चोरी चली जाती है और कथैत का लडका बछडो को छुडाता है। राजा मौहर बदले मे कथैत और खुलना की सतान से अपनी सतान का विवाह करने का वचन देते है। कथैत और खुलना का एक बेटा है लोरिक और मौहर के एक बेटी चदा। लेकिन मौहर अपना वचन भग करके अपनी बेटी का विवाह कथैत और खुलना के एक अमीर रिश्तेदार गढ रेओना के राजा बौरिया के बेटे बावन के साथ करना तै करते है। चदा इस विवाह को अस्वीकार करती है और जब एक शाप के कारण बावन के कोढी हो जाने पर उसकी जगह लोरिक गौना कराने आता है तो वह लोरिक के साथ भाग जाने का निर्णय करती है। बावन शाप से मुक्त होकर ठीक हो जाता है और तब जगल-जगल शहर-शहर प्रेमी युगल को मार डालने के इरादे से ढूढता फिरता है लेकिन चदा की लगन और लोरिक के सौतेले भाई की बहू की सहायता के फलस्वरूप दोनो बच जाते है और सुख से जीवन बिताते है।

"जटिल कथानक को हबीब ने अधिक से अधिक सीधा-सादा रूप देने की चेष्टा की। उन्होने अपनी प्रस्तुति मे चदैनी शैली और धुनो को लिया तथापि अपने को उसमे ही सीमित नही रखा। इसके पहले वे पडवानी प्रस्तुत कर चुके थे जो पूनाराम के प्रभावपूर्ण मूक अभिनय और गायन के बावजूद दर्शको को आधा घटा से अधिक नही बाध सकी थी। सोनसागर उस दृष्टि से अगला कदम था, हबीब के कलाकारो ने कहानी को अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत करने मे पहले से अधिक सफलता प्राप्त की। डोली या धनुष से तीर छोड देने के बाद कलाकार का तीर उठाये हुए नदी और खेत पार करते हुए चले जाना जैसे छोटे-छोटे लोक क्रियाकलाप प्रभावपूर्ण रहे। इसी तरह जानवरो के साथ वाले दृश्य भी बडे प्रभावपूर्ण थे। लेकिन पहले हिस्से मे गति बहुत धीमी थी, नाटक घिसटता हुआ बढ रहा था। उत्तरार्द्ध मे कहानी

ने गति पकडी, एक के बाद एक घटनाए होती रही और नाटक तीव्र गति से अत की ओर अग्रसित हुआ ।

"हबीब के छत्तीसगढी कलाकार अपने हर अभिनय मे पूरा आनद लेते है । फिदा, मालू उदय, भुलवा, कौशल्या, बृज, रवि और हरि वगैरह सभी ने फिर से सुन्दर अभिनय किया । हमेशा यही लगता है कि जैसे अभिनीत भूमिका के लिए ही वे बने हो, एकदम फिट बैठते है (इनैक्ट 163-164, जुलाई-अगस्त 1980) ।"

सोनसागर के मूल मचन के करीब दस वर्षों बाद 16 जनवरी सन् 1989 के दी इडियन पोस्ट मे नन्ही कपूर की समीक्षा भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है । नाटक 7 जनवरी '89 को बम्बई के राष्ट्रीय कला केन्द्र के टाटा थियेटर मे खेला गया था । नन्ही कपूर के अनुसार—

"एक ऐसी रगीन प्रेमकथा जिसमे साहसिक अभियान, सही मात्रा मे करुणा और परीकथा जैसा अत हो, किसे अच्छी नही लगेगी, और यदि कहानी दतकथा हो तो और उत्तम । लोकनाट्यरूप मे कही गयी कहानी जिसमे जोशीले गीतो की लटक-झटक, भडकीले कपडे और जीवन्त व्यग्य-उपहास हो तो पापकार्न और आलू के चिप्स खानेवाले सुधारातीत दर्शक भी सहज ही परास्त हो जाते है । सोनसागर एक ऐसी ही प्रस्तुति है ।

"सोनसागर चदैनी छत्तीसगढ की एक पुरानी मौखिक कथा का नाट्य रूपातर है जिसे परम्परा से छत्तीसगढ मे चदैनी, पूर्वी उत्तर प्रदेश मे लोरिक और बिहार मे लोरिकायन कहते है । एक विवाहित पुरुष लोरिक और बाल-विवाह की शिकार चदा की प्रेमकहानी चदैनी या लोरिक या लोरिकायन है ।

"कथा यद्यपि पुरानी है और जिसके प्रमाण बनारस तथा चडीगढ के सग्रहालयो मे सुरक्षित इस कथा पर आधारित चित्र मे प्राप्त होते है, तथापि इसका आधुनिक महत्व भी है क्योकि इसमे एक दूसरे के प्रति प्रतिबद्ध दो व्यक्तियो के प्रेम को सहानुभूति के साथ चित्रित किया गया है ।

"नायिका चदा के चरित्र के माध्यम से नाटक नारीवाद (feminism) की पुष्टि भी करता है । परम्परा को तोडने, ससुराल से भागकर अपने प्रेमी के पास जाने और उस प्रयत्न मे बडी कुशलता और चतुराई से विघ्नबाधाओ से जूझने मे चदा ही साहसिक और निर्णायक कदम उठाती है ।

"नाटक के लेखक, निर्देशक और गीतकार हबीब तनवीर ने विशाल गेय

महाकाव्य की कथा को ढाई घटे के नाटक मे समेटने का दुष्कर कार्य अत्यंत सफलतापूर्वक किया और इसमे उन्होने शहरी तथा ग्रामीण परम्पराओ का कुशल सयोजन किया ।

"उदाहरणस्वरूप यदि वेशभूषा और इस्तेमाल मे आनेवाली वस्तुए वास्तविक थी (इसका श्रेय मोनिका तनवीर को है) तो पीछे के पर्दे पर झोपडी की दीवारे और नदी के पुश्ते (या बाध) चित्रित थे जो सर्वथा आज की नवीन अवधारणा है । जहाँ चीजे आकार मे बहुत बडी थी वहा मूक अभिनय का सहारा लिया गया उदाहरणस्वरूप तब जब अपने सनकी पति के लिए चदा ढेरो खाने-पीने की चीजे ले जाते हुए लडखडाती है ।

"आलोक आम तौर पर सपाट था जैसा कि गाव के प्रदर्शनो मे होता है तथापि बीच-बीच मे किसी रहस्यमय दृश्य के वातावरण को घनीभूत करने के लिए वह कम और अधिक किया जा रहा था जो अपने आप मे एक आधुनिक नाटकीय उपाय है ।

'एक बात समझ मे नही आयी कि क्यो दो महिला भूमिकाओ मे पुरुष अभिनेताओ ने अभिनय किया जब कि बाकी मे औरते कर रही थी । क्या ऐसा इसलिए किया गया था कि महिला कलाकारो की कमी थी या गावो की परम्परा के अनुसार पुरुष महिला भूमिका मे अभिनय कर रहे थे या ऐसा केवल इसलिए किया गया क्योकि पुरुष अभिनेता उन चरित्रो के हास्य को अधिक अच्छी तरह उभार सकते थे ?

"नाटक लिखने मे हबीब तनवीर ने दतकथा के कुछेक तत्वो को महत्व दिया है जैसे उनके नाटक मे पशु को महत्व दिया गया है । वे समृद्धि के परिचायक है । असल मे नाम भूमिका सोन (सोने का) सागर एक भैस का नाम है जो चदा द्वारा पालित पशु है जिसे चदा के मा-बाप उसके ससुर को दहेज मे देते है और जो नाटक के शीर्ष स्थल पर विरोधियो को खदेडकर चदा की सहायता करती है ।

"नाटक के गाने निश्चित रूप से ग्राम्य है और जिन्हे कलाकार पूरी शक्ति के साथ गला खोलकर गाते है । हबीब के गीतो मे पर्याप्त धार है जो दर्शको को बाधे रखती है । दुर्भाग्य से, भाषा एक समस्या थी । हिन्दी भाषा-भाषी दर्शको को भी पूरी बात समझने मे असुविधा हो रही थी ।

"लेकिन स्टेज पर पर्याप्त रगीनी थी और निरतर क्रियाकलाप हो रहे थे जो दर्शको की दृष्टि से रुचिकर थे । विशेषकर बाल-विवाह का दृश्य बडा रोचक था जब दो बच्चे नगाडे की थाप पर फेरे लेते है या फिर चदा के

हमदर्द बदरुद्दीन और विरोधी गाववालो के बीच घटित होनेवाले हास्य दृश्य। चदा के खूखार पति बावन और किसान-दम्पती के बीचवाला दृश्य भी हास्यपूर्ण था जब वे बावन को इतनी शराब पिला देते है कि वह प्रेमियो का पीछा करने और उन्हे मारने मे असमर्थ हो जाता है। वे दृश्य भी विशेष रूप से हास्यमय बने जिनमे पुरुष कलाकार महिला भूमिकाओ मे अभिनय कर रहे थे। डायन की भूमिका मे अपनी ऐडी-बेडी चाल और पोपले मुह से मदनलाल दर्शको को खूब हसाते थे, हसते-हसते दर्शको के पेट मे बल पड जाते थे। इसी तरह बदला लेने के लिए उत्सुक बावन को पिला-पिलाकर धुत् कर देनेवाले दृश्य मे भद्दी, चालबाज और दबग किसान की बीबी की भूमिका मे बृजलाल ने अद्भुत अभिनय किया।

"दूसरी स्मरणीय भूमिकाओ मे पहला उल्लेख पूनम का जो प्रेमातुर लेकिन दृढसकल्प चदा की भूमिका मे अभिनय करती है। उसकी शानदार सुरीली आवाज मे मध्य प्रदेश के नीले आकाश और धूप मे तपी झोपडियो की सुगध बसी थी। और उल्लेखनीय है दोनो सूत्रधार और चंदैनी नर्तक (कथा-नर्तक रमई द्वारा अभिनीत) जो शालीनता और ओज के साथ कहानी को आगे बढाते है और स्वय हबीब तनवीर जो धूर्त और चालबाज पुरोहित की भूमिका बडी कुशलता से सम्पन्न करते है।

"भैसो की भूमिका मे अभिनय करनेवाले कलाकारो का विशेष उल्लेख आवश्यक है जो चमकती सीग, मनके की माला, घटिया और कम्बल के साथ बीच-बीच मे अपने चारो पैर पर इधर से उधर स्टेज पार करते थे। उनका ऐसा करना अपेक्षाकृत नीरस दृश्यो को रोचक बना देता था।

"कलाकारो मे से अधिकाश मजे हुए है, बचपन से ही इस पेशे के साथ जुडे हुए है। इग्लैड की कई महत्वपूर्ण प्रशिक्षण सस्थाओ मे प्रशिक्षण प्राप्त करके लौटने और भारतीय लोकनाट्य के क्षेत्र मे काम करने का निर्णय करनेवाले हबीब तनवीर के साथ गठबधन होने के पहले तक ये कलाकार रायपुर मे ग्रामीण दर्शको के सामने वर्षों से अपनी अभिनय कला का प्रदर्शन कर रहे थे। तनवीर के साथ नया थियेटर पूरे देश और विदेश के अनेक शहरो की यात्रा कर चुका है।

"सक्षेप मे कहा जा सकता है कि सोनसागर मध्यप्रदेश के ग्रामीण और सामूहिक जीवन की झॉकी प्रस्तुत करनेवाला एक रोचक और प्राणवत नाटक है (दी इडियन पोस्ट, 16 जनवरी 1989)।"

लोक कलाकारो के साथ काम करते हबीब को करीब पद्रह साल हो रहे थे, अब वे केवल पकडकर लाये गये छत्तीसगढ के कलाकार नही थे वरन् हबीब के जीवन और सोच के अभिन्न अग हो गये थे। धीरे-धीरे हबीब छत्तीसगढ के ग्रामीणो और उस अचल के आदिवासियो की समस्याओ से निकट से परिचित होने लगे और वे उन्हे आदोलित करने लगी। अब वे उन समस्याओ के केवल द्रष्टा नही रह गये, उसके भोक्ता बन गये। राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था सभी क्षेत्रो मे हो रहे अन्याय, अविचार और भ्रष्टाचार ने उन्हे उद्वेलित किया और वे उनकी ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने के लिए सन्नद्ध हुए। 'हिरमा की अमर कहानी' उनके इसी आतरिक उद्वेलन और घुटन का परिणाम थी। महावीर अग्रवाल के अनुसार—"(हिरमा की अमर कहानी मे) आदिवासियो के विकास के प्रश्न को, उनकी कठिनाइयों और अर्तविरोधो के साथ पूरे तथ्यो को सामने रखते हुए नाटककार ने अपना दृष्टिकोण सामने रखा है। नाटककार आदिवासी क्षेत्रो मे विकास की नीतियो मे परिवर्तन का पक्षधर है। आदिवासियो को उनका सही अधिकार मिले, उन पर अपने विचार न थोपे जाये—इन बिन्दुओ को विश्वास के साथ निर्देशक ने उभारने का प्रयास किया है। स्वातत्र्योत्तर भारतीय राजनीति मे राजाओ, सामतो, नवाबो की पकड, उनकी महत्वाकाक्षाओ मे लिपट राजनैतिक, सामाजिक व आर्थिक स्वार्थों के साथ अफसरी और धार्मिक जीवन की विसगतियो को निर्ममता से उद्घाटित किया गया है। राजनेता हो या जमीदार या भ्रष्ट अधिकारी वर्ग—किस तरह ये लोग कभी न्याय और व्यवस्था के नाम पर, कभी विकास के नाम पर मानवीय मूल्यो की बलि देते है इसका सजीव चित्रण हिरमा की अमर कहानी मे दिखलाई पडता है (छायानट अक 38, पृष्ठ 62 से 63)।"

तितुरबसना के आदिवासी शासक हिरमा की कहानी और सघर्ष को आधुनिक पटभूमि मे रखकर प्रस्तुत किया गया है। नाटक मे आदिवासी पात्रो के साथ ही है पुलिस कमिश्नर, उनकी पत्नी, मत्री, विधानसभा के सदस्य आदि। स्पष्ट है कि इन दोनो को एक साथ रखकर नाट्यकार-

निर्देशक (हबीब तनवीर) दोनो के अतर्विरोधो और विसगतियो को मुखर करना चाहते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस सारे चित्रण मे आदिवासी और ग्रामीण वर्ग सत् एव पीडित वर्ग का प्रतिनिधित्व करेगे और असत् तथा शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करेगे राज्याधिकारी, अफसर और धार्मिक-राजनीतिक नेता। चुस्त सवाद नाटक के कथानक को गतिमय और रोचक बनाते है। प्रस्तुति की शैली भी वही—नाच-गान से भरपूर। लोककलाकार ग्रामीण और आदिवासी पात्रो की भूमिकाओ का निर्वाह जितनी सफलतापूर्वक कर सके उतना आधुनिक शहरी पात्रो की नही। भुलवाराम, फिदाबाई, पूनमबाई, रविलाल ने क्रमश. राजा हिरमादेव सिह गगबसी, महाराज की सहयोगिनी बैंगिनबाई (विवाह के समय केवल पाच फेरे होने के कारण निर्देशक बैंगिनबाई को कनसर्ट मानता है), कलेक्टर की पत्नी रेणुका और हिरमादेव के छोटे भाई बीरमदेव की भूमिका मे अभिनय किया। प्रथम दो जहाँ सफल रहे वहाँ शेष दोनो का अभिनय अपेक्षाकृत अतिरजित रहा और वह दर्शको के मन को मुग्ध नही कर पाया। सन् 1981 मे कलकत्ता मे हुई इसकी प्रस्तुति से 'आजकल' के समीक्षक शौनक लाहिडी को पर्याप्त असतोष रहा। उनके अनुसार "नाटक हमे आत्मविस्मृत तो नही ही कर सका, विभोर और मग्न भी नही कर पाया (आजकल, 17.12 86)।" लेकिन हाँ, साधारण-सी प्रभावपूर्ण कल्पनाशील मचसज्जा की वे तारीफ करते है और तारीफ करते है कलाकारो के गान और सामूहिक नृत्य की—"हाँ, इस नाटक मे भी प्रिय छत्तीसगढ वाले ही आपकी रक्षा करते है हबीब। उनके मर्मस्पर्शी गायन और लोहे को ठकठकाकर किये जानेवाले सामूहिक नृत्य ने इस बार भी हमारे मर्म को स्पर्श किया। और अभिनय—जो वे एकदम नही करते—जो हबीब की स्क्रिप्ट मे भी नही होता किन्तु जो उनकी मुट्ठी मे होता है—उसने इस बार भी हमे मुग्ध किया, रससिक्त किया, बस इतना ही।" (वही)

अप्रैल 1988 मे भिलाई के इप्टा के लिए हबीब तनवीर ने शकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' का निर्देशन किया। स्वय उनके शब्दो मे—"इसे ओपेन एयर मे किया। मैने नाटक को री-स्ट्रक्चर किया। नाटक मे बैकग्राउ ड मे होनेवाले कुछ दृश्यो को मैंने लिखा और उन्हे स्टेज पर दिखलाया जैसे कही बगीचे मे हुआ रेप सीन या फिर आत्म-हत्यावाला सीन। यह दुर्घटना एक पहाड़ की चोटी से हुई थी। हमने यह दृश्य एक मकान की छत से किया। पीछे रोशनी देकर—फ्लड लाइट। लोगो को बहुत दूर पर

आकृतिया दिखी जाती हुई और फिर गिरती हुई। एक दृश्य चबूतरे पर दिखलाया, नीचे का दृश्य था। यहाँ-वहाँ हर जगह दृश्य दिखलाये गये थे। नाटक मे जिन घटनाओ का वर्णन किया गया था, उन्हे मैंने दिखलाया इसलिए उन वर्णनो को काट दिया क्योकि फिर उनकी जरूरत नही रह गयी थी। यह नयापन 'एक और द्रोणाचार्य' मे लाया गया था।''

यह हुआ नया थियेटर के लिए किये गये नाटको का लेखाजोखा। इनके अतिरिक्त हबीब ने स्कूल-कालेजो के लिए तो बराबर नाटक तैयार करवाये पर दूसरे दलो के साथ काम कम ही किया। कारण स्पष्ट है—एक तो नया थियेटर की गतिविधिया ही उन्हे व्यस्त रखने को पर्याप्त रहती है। नाट्य-रचना, गीत-रचना, सगीत-रचना, निर्देशन एव दल की व्यवस्था आदि नाना कामो के बाद समय ही कहा बचता है। एक और भी कारण लगता है और शायद वह अधिक बडा कारण है—वे अब जिस तरह की प्रस्तुतिया करते है, लोककलाकारो के साथ काम करके जिस कौशल और ऊर्जा के वे अभ्यस्त हो गये है, वह अन्यत्र किस दल मे मिल सकती है? इसीलिए थियेटर मे करीब 30 वर्षो तक—और वह भी दिल्ली मे—काम करने के बाद सन् 1989 मे जब उन्हे राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रगमडल ने एक नाटक का निर्देशन करने के लिए पहली बार आमन्त्रित किया तो सभी को सुखद आश्चर्य हुआ। पत्रकारो के इस प्रश्न के उत्तर मे कि नाट्य विद्यालय ने अभी तक आपको निर्देशन के लिए क्यो नही आमन्त्रित किया था, हबीब का छोटा-सा उत्तर था—उनसे पूछिए। शायद लोग डरते थे कि उनकी अपेक्षाओ को वे पूरी नहीं कर पायेगे। अस्तु,

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रगमडल द्वारा प्रस्तुत किया जानेवाला नाटक था 'दुश्मन'। सन् 1906 मे मैक्सिम गोर्की द्वारा लिखित 'दी एनेमीज' का भारतीय रूपातर किया था सफदर हाशमी ने। सफदर ने यह रूपातर नौवे दशक के प्रारभ मे किया था और जो उनकी मृत्यु के बाद उनके कागजो मे मिला। रचना के बाद रूस मे नाटक पर प्रतिबध लगा दिया गया था, गिरफ्तारी से बचने के लिए गोर्की रूस से बाहर चले गये थे और लौटे करीब पचीस वर्षो बाद सन् 1931 मे यद्यपि इस बीच रूस मे सन् 1917 की क्राति हो चुकी थी और वे लेनिन के सम्पर्क मे थे। 'दी एनेमीज' मे न केवल मजदूर

और मालिक के बीच के सघर्ष को चित्रित किया गया है वरन् स्वय मालिको के बीच दिखलाई पडनेवाले मत-मतान्तरो को भी उभारा गया है । करीब अस्सी-पचासी वर्ष पूर्व लिखा नाटक आज भी प्रासगिक लगता है, हमारे देश का पूरा माहौल उसमे फिट बैठता है और यह तथ्य नाटक की महानता को रेखाकित करता है जो समय और स्थान की सीमा का अतिक्रमण करके सर्वदेशीय, सर्वकालीय सज्ञा का अधिकारी बनता है । गोर्की के इस कथ्य को कि "मालिक चाहे कठोर हो या नम्र सुधारवादी, परिणाम एक ही होगा । दोनो ही मजदूरो के अधिकारो को दबाना चाहेगे । चूकि मजदूर और मालिको के स्वार्थ भिन्न-भिन्न है अत वे कभी एक नही हो सकते"—सफदर हाशमी ने रूपातर मे बडी खूबसूरती से समाहित किया है । नाटक के कथ्य और घटनाओ को भारतीय परिवेश मे ढालते समय सफदर मूल नाटक के निकट बने रहे, भारतीय स्थितियो और घटनाओ के माध्यम से उन्होने मूल नाटक की आत्मा को प्रस्तुत किया । निर्देशक हबीब तनवीर ने आलेख मे विशेष परिवर्तन नही किये सिवाय इसके कि उन्होने उसमे पाच गीत जोडे । स्वरचित गीतो को उन्होने रवीन्द्र सगीत, नजरुल गीति और रूस की अक्टूबर क्राति के गीत के स्वरो पर गवाया । तथापि मूल आलेख अपने आप मे बरकरार रहा ।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रगमडल के प्रशिक्षित कलाकारो और नया थियेटर के छत्तीसगढी कलाकारो को एक साथ मच पर उतारकर हबीब तनवीर ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया । वैसे इस नाटक मे दोनो कलाकारो का समन्वय आसान था, शहरी भूमिकाओ मे अभिनय किया रगमडल के कलाकारो ने और मजदूरो तथा कोरस के रूप मे अभिनय किया छत्तीसगढी कलाकारो ने । प्रस्तुति मे मच-सज्जा सामान्य थी, सारा क्रियाकलाप कुवर अजीतपाल सिह के घर मे घटित होता है, केवल अत मे कचहरी के दृश्य मे दृश्य परिवर्तन होता है । आलोक वगैरह के विशेष उपयोग का भी प्रयत्न निर्देशक ने नही किया । हा, सगीत का उपयोग उसने अवश्य किया । गीत न तो गोर्की के आलेख मे थे और न सफदर के रूपान्तर मे लेकिन हबीब ने पाच गीत लिखकर नाटक मे जोडे और उन्हे कोरस के रूप मे गवाया । सभवत नाच-गाने के प्रति विशेष लगाव होने के कारण ही उन्होने ऐसा किया क्योकि ये कोरस वही कह रहे थे जो कहा जा चुका था या कहा जानेवाला था । ये किसी भी तरह नाटक की कथा या स्थिति को आगे नही बढा रहे थे । इदरजीत शर्मा के अनुसार "वे नाटक की गति मे रुकावट उत्पन्न कर रहे थे ।

नाटक ब्रेख्त शैली मे लिखा गया होता तो बात अलग थी लेकिन वैसा न होने के कारण कोरस नाटक की गति और लय को तोड रहे थे (दी टाइम्स ऑफ इडिया, 7 7 89 के डायलग कालम के अतर्गत प्रकाशित पत्र) ।"

आम तौर पर अभिनय की प्रशसा सबने की । मिल मालिक के रूप मे विजय शुक्ल और जैन के रूप मे सुरेन्द्र प्रसाद ने विशेष रूप से प्रभावित किया । कोरस गायको मे पूनम, माला, बृजलाल और भुलवाराम आदि ने नाटक को रसमय बनाया । दुश्मन की यह प्रस्तुति निश्चित रूप से रगमडल की श्रेष्ठ प्रस्तुतियो मे से एक मानी गयी । साथ ही यह भी कहा गया कि राजनीतिक नाटक करने की रगमडल की यह पहल महत्वपूर्ण है और इसका स्वागत किया जाना चाहिए । समाचार पत्रों मे इस प्रस्तुति की पर्याप्त चर्चा हुई वैसे शहीद अनवर के अनुसार सफदर सभवत इसे नुक्कड नाटक का रूप देना चाहते थे इसलिए उन्होने दृश्य विधान बहुत सीधा-सादा रखा था । नाटक की सीधी अपील भी सभवत उसी कारण होती है ।

असगर वजाहत के नाटक 'जिन लाहौर नही देख्या वो जन्माई नही' को हबीब ने सन् 1990 मे श्रीराम सेंटर रेपरटरी के लिए तैयार किया । भारत-पाकिस्तान विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुई स्थिति की पृष्ठभूमि मे लिखा यह नाटक बडा मार्मिक है । राजनीतिक और धार्मिक नेताओ द्वारा जबरदस्ती भडकायी गयी साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम का बडा करुण चित्रण इसमे किया गया है । इसमे भी हबीब ने अपनी ओर से पाच गीत जोडे जो कोरस के रूप मे गाये गये । इन गजलो और नज्मो के रचनाकार थे फिराक गोरखपुरी, अमृता प्रीतम, राही मासूम रजा और पाकिस्तान के मशहूर शायर नाजिर काजिमी । मुझे इसका प्रथम प्रदर्शन देखने का अवसर प्राप्त हुआ । अत्यत सहज-सरल ढग से नाटक की कथा आगे बढती है । हबीब ने प्रस्तुति पर जबरदस्ती कुछ भी लादा नही था, मानवीय स्तर पर घटनाओ का चित्रण और पात्रो की मन स्थितियो का उद्घाटन करते गये थे । आज की परिस्थिति मे भी नाटक बहुत मौजूँ है ।

हबीब तनवीर के रगकर्म के सिलसिलेवार ब्योरे को यहा विराम दिया जा रहा है । उनकी अगली प्रस्तुति 'देख रहे है नयन' की चर्चा फिर कभी ।

हबीब तनवीर के नाटको के उपर्युक्त विवरणो के माध्यम से उनके व्यक्तित्व के तीन रूप सामने आते है—अभिनेता, निर्देशक और लेखक। यद्यपि हबीब तनवीर बीच-बीच मे अभिनय करते रहते है और अनेक बार उन्होने अच्छा अभिनय भी किया है तथापि वे मूलत निर्देशक हैं, पिछले पद्रह-बीस वर्षो मे रग-निर्देशक के रूप मे ही उनका व्यक्तित्व अधिक उभरा है और हिन्दी नाट्य जगत को उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन इसी क्षेत्र मे रही है। सभवत हबीब एकमात्र निर्देशक है जिनकी प्रस्तुतियो मे विषयवस्तु, प्रस्तुनि शैली एव भाषाओ के प्रयोग की ऐसी विविधता मिलती है। यह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका कार्य-फलक अत्यत विस्तृत एव व्यापक रहा है। अपने प्राय पचास वर्षो के नाट्यजीवन मे हबीब ने अनेक नये क्षेत्रो मे प्रयोग किये है, अपने प्रयोगो की सफलता-असफलता के प्रति सजग रहे है, शहरी और ग्रामीण नाट्य प्रवृत्तियो के बीच सेतु बनाने की दिशा मे सचेष्ट रहे है, अपनी मान्यताओ के रूपायन के आग्रही रहे है आज सत्तर वर्ष की उम्र मे भी पूरी लगन के साथ काम मे जुटे हुए है।

विषयवस्तु की दृष्टि से हबीब ने एक विस्तृत फलक पर काम किया है। एक ओर स्ट्रीट-प्ले और पोस्टर प्ले है जिनका सम्बन्ध सामयिक मुद्दो से है और जिनका जीवनकाल उठाये गये मुद्दो के महत्व और जीवनकाल पर निर्भर करता है तो दूसरी ओर सस्कृत के गौरवमय नाटक उत्तररामचरित (भवभूति), उरुभगम्-दूतवाक्यम्-पचरात्रम् (भास), मृच्छकटिकम् (शूद्रक) तथा मुद्राराक्षस (विशाखदत्त) है जो अपनी रचना के बारह-पद्रह सौ वर्षो बाद तक जीवित है और आज भी सामयिक महत्व के लगते है। अन्य भारतीय नाट्यकारो मे उन्होने बीसवी सदी के नाट्यकार आगा हश्र काश्मीरी शकर शेष और असगर वजाहत के नाटको का निर्देशन किया जिनके कथानक ऐतिहासिक और पौराणिक थे तथापि जो समसामयिक समस्याओ से जुडे थे विशेषकर अतिम दो। इनके साथ ही उन्होने निर्देशन किया है शेक्सपियर, मॉलियर, ब्रेश्ट, गोगोल, गोल्डनी, लोर्का, आस्कर वाइल्ड, गोर्की जैसे प्रख्यात विदेशी नाट्यकारो के नाटको का जो गत चार सौ वर्षो की अवधि मे विश्व के

विभिन्न अचलो मे विभिन्न भाषाओ मे लिखे गये और समय-स्थान की सीमा का अतिक्रमण कर जो आज भी हमे जीवन के नाना रूपो-रगो का साक्षात्कार कराते है। विश्व की कई भाषाओ की मार्मिक कहानियो का रूपातर करके उन्होने मचन किया है। और इन सबसे ऊपर उन्होने चुना अपने देश की लोककथाओ को जिनको मूल मे रखकर उन्होने रोचक ताने-बाने बुने और सार्थक, प्रभावपूर्ण तथा विविधतामय प्रस्तुतिया हमारे सामने रखी जिन्हे हम टोटल थियेटर का अच्छा दृष्टात कह सकते है। हबीब की प्रस्तुतियो मे विशिष्ट महत्व है 'आगरा बाजार' और 'मेरे बाद का'। क्रमश नजीर अकबराबादी और गालिब की कविताओ और जीवन से सम्बन्धित ये दोनो प्रस्तुतिया अपना अलग स्थान और महत्व रखती है क्योकि इनका सम्बन्ध न केवल उन्नीसवी-बीसवी सदी के दो प्रख्यात शायरो से है वरन् स्वय शायर हबीब के काव्यप्रेम से भी है जिससे प्रेरित हो उन्होने ये नाटक लिखे और इन्हे प्रस्तुत किया।

अब निर्देशक हबीब तनवीर के कार्यों का मूल्याकन थोडे विस्तार से।

किसी भी नाट्यप्रस्तुति के तीन आवश्यक तत्व होते है—नाट्यालेख, निर्देशक-अभिनेता एव दर्शक। नाट्यालेख वह पहला तत्व है जो किसी भी प्रस्तुति के लिए अनिवार्य होता है वह चाहे पूर्णाग हो या एकाकी, पौराणिक हो या ऐतिहासिक या समकालीन, सवाद-बहुल हो या रेडियो नाटक, नागर नाटक हो या लोक नाटक, भले ही वह शब्दविहीन ही क्यो न हो पर उसका होना अनिवार्य है, उसके अभाव मे निर्देशक-अभिनेता-अन्यान्य सहायक-दर्शक किसी का कोई स्थान ही नही रह जाता। नाट्यालेख का चुनाव आम तौर पर निर्देशक और प्रस्तुत करनेवाले दल की रुचि और प्रतिबद्धताओ का इगित करता है। निर्देशक हबीब तनवीर द्वारा चुने गये नाटक उनके एकाधिक लगावो का इगित देते है साथ ही वे उनकी प्रस्तुति-शैली भी निर्धारित करते है। सबसे पहले ले स्ट्रीट प्ले को क्योकि हबीब के नाट्यजीवन का प्रारभ स्ट्रीट प्ले (जो पोस्टर प्ले या नुक्कड नाटक के नाम से भी जाने जाते है) मे अभिनय और उनके मचन से हुआ। इतना ही नही उन्होने स्ट्रीट प्ले लिखे भी। सन् 1948 मे खेला गया 'शातिदूत कामगार' उनके द्वारा लिखित और निर्देशित पहला स्ट्रीट प्ले था जो परेल मे मिल के गेट पर खेला जाता था। आधे घटे का यह आलेख मजदूरो से सम्बन्धित था, उनकी विशेष माग से।

माग पूरी हुई, नाटक की उपादेयता समाप्त हो गयी। इस समय या इसके आसपास और भी स्ट्रीट प्ले हुए जिनके साथ हबीब जुडे थे। इसके बाद एक लबे अरसे तक वे दूसरे तरह के नाटक करते रहे। स्ट्रीट प्ले का दूसरा दौर बाइस तेइस वर्षो बाद प्रारभ हुआ जो करीब 15 वर्षो तक चला जिसके अतर्गत हबीब ने इन्द्र लोकसभा (1971), कुश्तिया का चपरासी (1971), जमादारिन, झूठी साया, देवी का वरदान (1981), मगलू दीदी (1986), किसका पुत्र (1986) आदि नाटक खेले। ये सभी स्ट्रीट प्ले हबीब द्वारा लिखे गये थे और चुनाव, परिवार-नियोजन, मा और बच्चे के स्वास्थ्य आदि विषयो से सम्बन्धित थे। ये सभी नाटक बीस से चालीस मिनट की अवधि के थे, हास्य-व्यग्य से भरपूर थे और प्रचार की दृष्टि मे लिखे और खेले गये थे। 'इद्र लोकसभा' का मचन ट्रक पर किया जाता था। उसी ट्रक पर कलाकार एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे, बीस मिनट मे ट्रक को स्टेज मे रूपातरित कर लेते थे और चालीस मिनिट का नाटक खेलकर आगे बढ जाते थे। चुनाव-प्रचार की दृष्टि से लिखा गया यह नाटक खूब लोकप्रिय हुआ था। इसी तरह मा और बच्चे के स्वास्थ्य से सम्बन्धित नाटक 'मगलू दीदी' भी खूब लोकप्रिय हुआ था। एक पुरुष के गर्भधारण करने की हास्यकर स्थिति ने विषय को बडे रोचक ढग से पेश करने को प्रेरित किया था। स्ट्रीट प्ले की प्रस्तुति का स्वरूप बहुत कुछ तै रहता है। बीस से चालीस मिनिट के समय मे बिना किसी साधन और तामझाम के, कम से कम तैयारी मे नाटक प्रस्तुत करना होता है। स्ट्रीट प्ले प्रस्तुत करनेवालो को नाना तरह की समस्याओ का सामना करने के लिए तैयार रहना पडता है। पुलिस धर-पकड कर सकती है, दूसरे पक्षवाले हगामा खडा कर सकते है, आधी-तूफान आ सकता है। परिस्थिति को देखते हुए नये सवाद भी जोडने पड सकते है, जनता को नियत्रण मे भी रखना पड सकता है। हबीब ने बडी कुशलतापूर्वक यह काम किया। हा, एक बात स्पष्ट है। बम्बई मे खेले गये उनके पहले दौर के स्ट्रीट प्ले इप्टा (इडियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन) के तत्वावधान मे खेले गये थे और निश्चित रूप से एक प्रकार की राजनीतिक प्रतिबद्धता से प्रेरित थे जबकि दूसरे दौर के नाटक सरकार या दूसरी प्रचार करनेवाली एजेसियो द्वारा प्रेरित थे और उनके पीछे विशुद्ध प्रचार की भावना थी, किसी प्रतिबद्धता की नही। सभवत दिल्ली आने के बाद हबीब ने जो भी नाटक किये वे उनके बम्बई प्रवास के दौरान खेले गये नाटको से बहुत भिन्न थे—विषयवस्तु और राजनीतिक प्रतिबद्धता सभी दृष्टियो से।

नाट्यनिर्देशन का प्रारभ हबीब ने स्ट्रीट प्ले से किया पर जैसा कि हम देख चुके है, वे उसी से बधकर नही रहे। सन् 1948 मे ही बम्बई मे उन्होने प्रेमचन्द की कहानी शतरज के खिलाडी पर आधारित नाटक तैयार किया 'शतरज के मोहरे'। पूर्ण नाटक के रूप मे लेखन-निर्देशन उनका था, प्रस्तुति इप्टा की। नाटक बम्बई और हैदराबाद मे खेला गया पहले दौर मे। दीना पाठक कलाकारो के दल मे शामिल थी। सन् 1954 और 1960 मे इसे दिल्ली मे दो बार और प्रस्तुत किया हबीब ने। पहली प्रस्तुति जामिया मिलिया के लिए थी और दूसरी नया थियेटर के लिए जिसमे सुषमा सेठ ने अभिनय किया था। सन् 1954 मे जामिया मिलिया के अध्यापको, विद्यार्थियो और ओखला गाँव के लोगो को एक साथ जुटाकर की जानेवाली 'आगरा बाजार' की प्रस्तुति अनेक दृष्टियो से महत्वपूर्ण थी। इसकी चर्चा विस्तार से पहले की जा चुकी है। आगरा बाजार की करीब एक घटे की मूल प्रस्तुति धीरे-धीरे करके पूर्णाग नाटक मे रूपातरित हुई। इस प्रस्तुति ने हबीब को आम जनता से जोडा, दर्शको को दर्शक-दीर्घा से उठाकर मच के बीच स्थापित किया। कालातर मे लोक-कलाकारो को साथ लेकर काम करने की यह शुरुआत थी। मूल प्रस्तुति के बाद सन् 1970, 1977 और 1989 मे उन्होने आगरा बाजार को तीन बार और प्रस्तुत किया, हर प्रस्तुति का अपना महत्व था। 1970 मे छत्तीसगढी कलाकार नया थियेटर का अभिन्न अग बन गये, नया थियेटर इसी प्रस्तुति से व्यावसायिक दल बना। 1977 की प्रस्तुति मे देश के श्रेष्ठ कलाकारो ने भाग लिया और 1689 की प्रस्तुति नेहरू शताब्दी समारोह का अग थी। मुझे इसकी 1970 और 1989 की प्रस्तुतियो को देखने का अवसर मिला। पहली बार देखा होगा आज से पद्रह-बीस साल पहले। पूरी प्रस्तुति बडी मोहक लगी थी। पर्दा खुलने पर आगरा के एक बाजार का दृश्य—सामने छोटी-छोटी दुकाने चूडियो और मिट्टी के बर्तनो की। बायी ओर किताबो की दुकान, दायी ओर गुड्डियो की। उनके साथ ही बाजार को घेरकर बैठे खोमचेवाले—ककडी, तरबूज, चनाचूर वगैरह बेचनेवाले। और इन सबके बीच आकर खेल दिखानेवाले मदारी और बदरवाला। दुकानो के ऊपर एक तल्ले पर सजा बाईजी का कोठा जहाँ गाने की महफिल जमती है। अद्भुत समा बधा था। आपस की नोक-झोक, तुक्का-फजीहत और शायरी सारे माहौल को अद्भुत सजीवता प्रदान करती थी। गायक मडली द्वारा गायन कथा को आगे भी बढाता था और चारो ओर के माहौल पर कमेट भी करता था। नाटक की यह जीवतता उत्तरार्द्ध मे शिथिल पड़ गई,

नजीर अकबराबादी की नज्मो ने वातावरण को गभीर और वजनी बना दिया, उसकी सहज जीवतता समाप्त कर दी। साफ समझ मे आता है कि जामिया मिलिया के लिए हबीब ने इसे किया था तब मूलत उनका उद्देश्य आगरा के बाजार का एक सजीव चित्र प्रस्तुत करना था। बाद मे जब उसे पूर्णांग नाटक का रूप दिया तब नाच-गाना भी जोडना पडा और कवितायें भी। फलस्वरूप नाटक दुर्बल हो गया। यह सही है कि पहली बार देखनेवालो को यह प्रस्तुति मुग्ध करती है तथापि हबीब स्वीकार करते है कि अब इसमे वह जान नही जो पहले थी। नेहरू शताब्दी समारोह मे उन्होने आगरा बाजार को फिर से करने का निर्णय क्यो लिया इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होने एक साक्षात्कार मे कहा कि मेरी इच्छा नही थी कि इसे फिर से करू पर आयोजको के आग्रह के कारण करना पडा। एक और बात है। चालीस साल पहले मच पर इस तरह बाजार का दृश्य प्रस्तुत करना नई बात थी, उसने सबको मुग्ध किया था। अब उसमे कोई नयापन नही। कथानक और शिल्प की दृष्टि से आगरा बाजार शिथिल है ही इसलिए इसकी प्रस्तुति अब वैसा प्रभाव नही छोडती जैसा छठे-सातवे दशक मे छोडती थी।

किसी शायर की नज्मो पर आधारित नाटको की परम्परा मे 'मेरे बाद' का स्थान दूसरा है जिसे हबीब ने सन् 1968 मे नया थियेटर के तत्वावधान मे किया। 'मेरे बाद' सभवत हबीब की सबसे नाकामयाब प्रस्तुति थी जिसकी कोई कल ठीक नही थी—न विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से न प्रस्तुति की दृष्टि से। तीन-साढे तीन घटे तक चलनेवाला यह नाटक जिसमे हबीब अधिकाश समय हाथ मे नाट्यालेख लिये अभिनय करते रहे, उनके जीवन का एक अच्छा सबक रहा कि हडबडी मे, प्रेशर मे कोई काम मत करो। ट्रैजिक गालिब को प्रस्तुत करने का अभिनव प्रयोग, गजलो के बिना तरन्नुम पाठ, बेहतरीन उर्दू जुबान के इस्तेमाल के बावजूद प्रस्तुति फ्लाप थी, दुबारा इसे करने की इच्छा दिल मे सजोये रखने के बावजूद, वे इसे फिर से उठाने का साहस नही करते। इस नाटक के लेखन और मचन का विस्तृत ब्योरा स्वय हबीर तनवीर के मुह से सुनकर लगा कि बहुत बार उनके अदर का शायर उन पर हावी हो जाता है और दूसरे शायरो की रचनाओ का मोह उन्हे ऐसा जकड लेता है कि वे उसमे बह जाते है, प्रस्तुति के साथ युक्त रहते हुए भी अपने आपको अलग रखकर एक नाट्यकार और निर्देशक के रूप मे सृजन नही करने देता अन्यथा क्यो 'मेरे बाद' के आलेख को खेलने मे तीन-साढे तीन घटे लगे और सारी प्रस्तुति

बिखर गई, कोई छाप नही छोड पाई। एक अत्यत प्रिय शायर को मच पर सफलतापूर्वक न प्रस्तुत कर पाने की कसक आज भी उनके मन मे है वैसे ही जैसे अमृतलाल नागर के उपन्यास सुहाग के नूपुर को मच पर सफलतापूर्वक प्रस्तुत न कर पाने की पीडा मेरे मन मे है—उस प्रस्तुति का भी सब कुछ ढीला-ढाला था, सब कुछ करने की ईमानदार चेष्टा के बावजूद नाटक फ्लाप रहा—पूरी तरह से।

हबीब तनवीर ने सस्कृत के जिन तीन नाटको को प्रस्तुत किया वे है—शूद्रक का मृच्छकटिक (मिट्टी की गाडी, 1958) भवभूति का उत्तररामचरित (1975) और भास के तीन नाटक पचरात्रम्, दूतवाक्यम् और उरुभगम् को मिलाकर एकसाथ भासत्रयी (1978)। सस्कृत नाटको ने हबीब को शुरू से ही आकृष्ट किया क्योकि सस्कृत नाटको की नाट्यधर्मी शैली और लोक-नाट्य शैली मे उन्हे अद्भुत समानता दिखलाई दी। उनकी यह मान्यता है कि लोकनाट्य ही एक ओर रूढ होकर सस्कृत नाट्य के रूप मे विकसित हुआ और दूसरी ओर अपने सहज स्वाभाविक रूप मे लोकनाट्य के रूप मे प्रवहमान रहा और आज भी सस्कृत नाटको के मचन की समस्या का समाधान लोकनाट्य-रूढियो के माध्यम से सहज ही हो सकता है। 'मिट्टी की गाडी' उनकी पहली महत्वपूर्ण प्रस्तुति थी, हिन्दुस्तानी थियेटर के लिए की जानेवाली उनकी पहली एव अतिम। इसकी विस्तृत चर्चा प्रारभ मे की जा चुकी है, करीब पैंतीस वर्षो से रुक-रुककर चली आ रही इस प्रस्तुति के पक्ष एव विपक्ष मे अनेक मत व्यक्त किये जाते रहे है। हबीब का यह कहना बहुत दूर तक सही है कि 'मिट्टी की गाडी' समाज के केवल उच्चवर्ग से सम्बन्धित नाटक नही है और इसमे मध्यवर्ग एव निम्नवर्ग के पात्रो एव उनसे सम्बन्धित घटनाओ को जितना महत्व दिया गया है वह इसे जनसाधारण का नाटक बनाता है और इस कारण इसके लिए लोकनाट्य शैली एव लोकभाषा का इस्तेमाल अधिक सगत है। हबीब की इस मान्यता मे सत्य अवश्य है पर आशिक। सस्कृत नाट्यकारो ने ही समाज के उच्चवर्ग तथा ब्राह्मण एव पढे-लिखे लोगो द्वारा सस्कृत और स्त्रियो एव निम्नवर्ग के पात्रो द्वारा प्राकृत का प्रयोग करवाया है। हर समाज मे भाषा का इस्तेमाल सामाजिक स्थिति एव आभिजात्य से जुडा होता है और 'मिट्टी की गाड़ी' मे सस्कृत एव प्राकृत दोनो भाषाओ का इस्तेमाल नाटक मे विभिन्न वर्ग के लोगो की स्थिति को पुष्ट करता है। मूल प्रदर्शन हिन्दी मे हुआ था, परवर्ती प्रस्तुतियो मे

छत्तीसगढी भाषा, छत्तीसगढी कलाकार एव लोकनाट्य शैली की रूढियो ने जहाँ 'मिटटी की गाडी' को एक तरह की जीवन्तता और ऊर्जा प्रदान की वही मेरी दृष्टि मे उसने समाज के विभिन्न वर्गो की स्थिति और आभिजात्य तथा सामान्य के अतर को सपाट बना दिया, प्रेम का कवित्व कही खो गया। लबे अतराल के बाद सन् 1975 मे उन्होने भवभूति का उत्तररामचरित और सन् 1978 मे भास के तीन नाटक पचरात्रम्, दूतवाक्यम् और उरुभगम् को एक साथ मिलाकर 'भास-त्रयी' प्रस्तुत की। मुझे पता नही इन नाटको को प्रस्तुत करने के पीछे हबीब का उद्देश्य क्या था। उत्तररामचरित मे डासर कुमकुम माथुर (अब दास) सीता, कमल अजीम गगा और आशीष विद्यार्थी लव की भूमिकाओ मे थे। स्वय हबीब के शब्दो मे—'ए बियर्डेड रामचद्र, ए बिट आफ ए कैड।" भास के तीनो नाटको को मिलाकर उन्होने पडवानी शैली मे प्रस्तुत किया। सुप्रसिद्ध गायक-अभिनेता पूनाराम कोरस के रूप मे थे। इसमे दुर्योधन गाधी टोपी लगाकर आये थे। चूँकि 'मिट्टी की गाडी' के अतिरिक्त अन्य प्रस्तुतियो को देखने का मुझे अवसर नही मिला इसलिए यह कहना कठिन है कि उत्तररामचरित मे रामचद्र को दढियल तथा गवार (और शायद नीच भी) दिखाकर उन्होने क्या उपलब्ध किया या करवाया। मेरी दृष्टि मे रामकथा मे परवर्ती काल मे प्रक्षिप्त लव-कुश प्रसग को लेकर उसमे राम को बहुत छोटा बनाकर हम उस चरित्र के प्रति अन्याय करते है। इसी प्रकार भास की नाटकत्रयी मे दुर्योधन को गाधी टोपी मे लाकर हबीब उस सारी कथा को कहा तक समसामयिक बना पाये होगे, कहना कठिन है। पर कुछ भी हो, यह तो स्वीकार करना ही होगा कि हबीब एकमात्र ऐसे निर्देशक है जिन्होने सस्कृत नाटको की प्रस्तुतियो को अजायबघर मे रखने लायक प्रस्तुतिया बनाने के बदले उन्हे अपने युग और समाज के साथ जोडने का प्रयत्न किया, उनके मर्म को आम जनता तक पहुचाने का प्रयत्न किया और सस्कृत क्लासिकल नाट्य परम्परा तथा लोकनाट्य के बीच दृष्टिगोचर होनेवाली समानता को उजागर कर उनके बीच की दूरी पाटने का सार्थक प्रयत्न किया। उनके इस अवदान का विशेष महत्व है और हम सब इसके लिए उनके ऋणी रहेगे।

हबीब द्वारा निर्देशित नाटको मे बडी सख्या उन छोट-बडे नाटको की है जो किसी देशी-विदेशी कहानी या लोककथा पर आधारित है। इनके अतर्गत आते है शतरज के मोहरे (1948, प्रेमचद), जालीदार पर्दे (1952, रूसी कहानी), सात पैसे (1959, चेक कहानी), अर्जुन का सारथी और गाव का नाम

ससुराल मोर नाम दमाद (1970 और 1972, छत्तीसगढी कथाएं), ठाकुर प्रिथिपाल सिह तथा चरनदास चोर (1974 और 1975, राजस्थानी लोककथाए), शाही लकडहारा तथा जानी चोर (1976, हरियाणा), बहादुर कलारिन (1978, छत्तीसगढ के सोरर क्षेत्र की लोककथा), सोनसागर (1980, छत्तीसगढ की चदैनी और बिहार की लोरिकायन लोककथा) एव हिरमा की अमर कहानी (1985, आदिवासी कथा)। इनमे से प्रथम तीन सुप्रसिद्ध कहानीकारो की कहानियो पर आधारित है जब कि शेष बिहार, मध्यप्रदेश एव राजस्थान की लोककथाओ या जनजीवन पर आधारित। अपनी प्रस्तुतियो के लिए कथानको के चुनाव मे हबीब की यह दृष्टि उनके आम लोगो के जीवन और समस्याओ के प्रति गहरे लगाव को व्यक्त करती है। वैसे हबीब की मान्यता है कि अपनी समस्याओ का अनुभव, उनका चित्रण तथा उनका समाधान वही कर सकता है, जिसकी समस्या हो। बाहरवाला व्यक्ति न तो उन समस्याओ की पेचीदगी को समझ सकता है और न ही उनका समुचित समाधान कर सकता है। वे यह भी मानते है कि कलाकार क्राति नही ला सकता पर वह क्राति के लिए रास्ता अवश्य तैयार कर सकता है इसीलिए वे केवल मुददो को उठाते है, उनका समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नही करते।

हा, तो बात हो रही थी निर्देशक हबीब की। सन् 1960 तक आते-आते हबीब पूरी तरह लोक-रग मे रग गये थे। छत्तीसगढी कलाकार नया थियेटर मे आ चुके थे, मध्यप्रदेश की पडवानी शैली और नाचा नृत्य हबीब को अपनी ओर खीच रहे थे। जहा तक नया थियेटर के तत्वावधान मे नाटक करने का प्रश्न था, हबीब की दिशा तै हो गयी—उनकी प्रस्तुतिया मुख्यत छत्तीसगढी भाषा मे छत्तीसगढी कलाकारो को लेकर होगी। इस स्थिति ने उनके नाटको के कथानको के चुनाव, उनकी भाषा और प्रस्तुति के स्वरूप को बाध दिया। उपर्युक्त सारी प्रस्तुतिया इसका प्रमाण है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, यह स्थिति उनकी शक्ति भी बनी और सीमा भी। लोक कलाकार नाचने-गाने मे माहिर थे, शारीरिक अभिनय और हाजिर-जवाबी मे कुशल थे फलस्वरूप ये प्रस्तुतिया खूब जीवन्त हुई। कथानक लोककथाओ से लिया गया था अत उनका सम्प्रेषण बहुत सहज हो गया। पर लोककथा, लोकभाषा और लोककलाकार उनकी सीमा भी बने। उनके नाटको की समस्याओ का क्षेत्र सीमित हो गया, आधुनिक जटिल समस्याए अछूती रह गयी, हर प्रस्तुति में नाच-गाने का समावेश आवश्यक हो गया, इस लोभ से मुक्त हो पाना कठिन

हो गया। अभिनय मे ओज और ऊर्जा का समावेश तो हुआ पर लालित्य और कवित्व से वह वचित हो गया। हबीब की अधिकाश प्रस्तुतियो की विस्तृत विवेचना पहले की जा चुकी है। इन्हे समग्र रूप मे एक साथ देखने से हबीब मे हुए विकास की रेखा स्पष्ट दिखलाई पडती है। 'गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' उनके द्वारा निर्देशित नाटको मे आया पहला महत्वपूर्ण मोड है। चालीस-पचास मिनट के इस नाटक की प्रस्तुति का स्वरूप लोकनाट्य के अधिक निकट था। कथानक सामान्य ग्रामीण जन-जीवन मे सम्बन्धित था और प्रस्तुति मे भी कलाकारो को लोककलाकारो जैसी छूट थी। छोटे-छोटे प्रसगो को लेकर यह नाटक चलता था, कलाकार इच्छानुसार सवाद जोडते चलते थे। बहुत बार प्रदर्शन चुटकुलेबाजी जैसा बन जाता था। 'कुश्तिया का चपरासी' भी इसी ढग पर चला था पर इसके बाद ही हबीब ने किसी लोककथा को लेकर सुसम्बद्ध नाटक लिखना शुरू किया फलस्वरूप आगामी प्रस्तुतिया 'चरनदास चोर', 'बहादुर कलारिन', 'सोनसागर', 'हिरमा की अमर कहानी' आदि सशक्त नाट्य प्रस्तुतियो के रूप मे सामने आयी। इन प्रस्तुतियो मे छत्तीसगढी कलाकार खूब फबे, पूरी तरह फिट बैठे। नाटक के पात्र उनके आसपास के पात्र थे, उनकी समस्याए और भावनाए उनकी अपनी समस्याए और भावनाए थी जिन्हे रूपायित करने मे उन्हे कोई असुविधा नही होती थी, वे स्वय करने मे आनद पाते थे और करके दर्शको को आनद प्रदान करते थे। 'चरनदास चोर' और 'बहादुर कलारिन' हबीब तनवीर द्वारा निर्देशित अत्यत महत्वपूर्ण एव श्रेष्ठ प्रस्तुतिया है। 'चरनदास चोर' के कथानक की सहजता ने प्रस्तुति को बडी तरलता प्रदान की, सब कुछ सहज रूप मे प्रवाहित होता चलता है जबकि 'बहादुर कलारिन' की जटिल मानसिकता प्रस्तुति को गभीर स्वरूप प्रदान करती है, पल-पल पर रुककर सोचने को मजबूर करती है। इन दोनो नाटको मे फिदाबाई के अद्वितीय अभिनय को भुलाया नही जा सकता विशेषकर 'बहादुर कलारिन' मे नाम भूमिका मे। वह शक्ति, वह न झुकनेवाला व्यक्तित्व, वह बुलद आवाज और उस बुलद आवाज मे उनका गायन। आज भी सब कुछ दिल-दिमाग मे बसा है। परवर्ती नाटको मे हबीब ने शायद नया कुछ नही दिया, पूर्व निर्धारित ढर्रे पर प्रस्तुतिया होती रही, धूमधमाके के साथ वे देश के विभिन्न अचलो मे उन्हे दिखलाते रहे, दर्शक पक्ष-विपक्ष मे मत व्यक्त करते रहे। लेकिन मतमतान्तर के बावजूद लोककथाओ पर आधारित हबीब की प्रस्तुतियो का अपना महत्व है। शहरी और लोक रगमच के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का कार्य इनके

माध्यम से हुआ और अपनी जडो की ओर जाने, पाश्चात्य शैली का अधानुकरण करने के बदले अपने देश की परम्परा को पहचानने और उससे जुडने, नाचगान से समृद्ध टोटल थियेटर को प्रस्तुत करने आदि का सार्थक प्रयास इनके माध्यम से किया गया। इसका सुफल भी हमे मिला। गत बीस-पचीस वर्षों मे अपनी जडो की ओर जाने की बात जो बार-बार की जाती रही है और उस दिशा मे जो कार्य किया गया है, उसका शुभारभ हबीब ने किया था, उसका श्रेय उन्हे जाता है।

एक प्रश्न यहा अवश्य उठता है कि शहरी रगमच को तो इस प्रक्रिया से लाभ हुआ, शहरी कलाकारो ने नयी शक्ति और ऊर्जा के दर्शन किये पर इससे परे उन्हे क्या मिला? क्या वे स्वय उस शक्ति और ऊर्जा को अपने मे समाहित कर पाये? शायद नही क्योकि कोई भी शहरी कलाकार उन भूमिकाओ को उस कुशलता से नही कर पाता जैसे लोक कलाकार। फिर लोक रगमच को इससे क्या लाभ हुआ? पचीस-पचास कलाकार जो हबीब के साथ दिल्ली आ गये उन्होने स्वय हबीब से बहुत कुछ सीखा, देश और विदेश के अनेक बडे-बडे शहरो मे अपनी कला का प्रदर्शन किया और प्रशसा अर्जित की पर उनसे उनके क्षेत्र के स्थानीय रगमच को क्या मिला? हम शहरी लोगो ने तो अपनी जडो को निकट से देखा पर जडो के इर्द-गिर्द रहनेवालो को उससे क्या लाभ हुआ? उनको अपने विकास का क्या कोई अवसर मिला? शायद इन प्रश्नो पर सोचना आवश्यक हो गया है। हम शहरी लोग शहर और गाव दोनो का लाभ उठाते है, स्वय निरतर परिवर्तन के आकाक्षी रहते है पर चाहते है कि लोककलाकार अपनी परम्परागत विशिष्टता को बनाये रखे, जहा थे वही रहे, वही रहकर हमे ऊर्जा देते रहे। और सच पूछिए तो वह ऊर्जा भी हम ग्रहण नही कर पा रहे है, हम केवल उनका साक्षात्कार कर रहे है। खैर, ये प्रश्न किसी प्रकार हबीब के योगदान के महत्व को कम नही करते क्योकि ये उठे ही इसलिए कि उन्होने इस दिशा मे इतना काम किया अन्यथा हमारा ध्यान भी उस ओर न जाता।

वैसे हबीब स्वय इस स्थिति के दुष्परिणाम से बच गये क्योकि नया थियेटर की प्रस्तुतियो के अतिरिक्त दूसरो द्वारा उर्दू, हिन्दी तथा अग्रेजी मे लिखे नाटक बराबर तैयार करवाते रहे। इसने उन्हे जड नही होने दिया, उनकी शक्ति और क्षमता को बहुमुखी होकर विकसित होने का अवसर प्रदान

किया। इस दृष्टि से सबसे पहले चर्चा नया थियेटर के लिए किये गये आगा हश्र काश्मीरी के नाटक 'रुस्तम और सोहराब' (1960) तथा शकर शेष के नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' (1988) की। इन दोनो प्रस्तुतियो मे लोकनाट्य का सीधा प्रभाव नही था, ये आधुनिक नाटक थे। 'एक और दोणाचार्य' को उन्होने नया रूप दिया। उसमे पर्याप्त काटछाट तथा परिवर्तन किये। उसे ओपन एयर मे किया। नाटक को हबीब ने री-स्ट्रक्चर किया। नाटक मे बहुत सी घटनाओ की सूचना दी जाती है। इन दृश्यो को उन्होने लिखा और सामने दिखलाया जैसे रेप सीन। आस-पास का बडा क्षेत्र रगमच बन गया था, यहाँ-वहाँ-वहाँ कुछ-कुछ घटित हो रहा था। चूँकि बहुत से सूच्य दृश्यो को दृश्य बना दिया गया था अतः उन सूच्य दृश्यो को बाद दे दिया। नाटक का कथानक दो स्तरो पर चलता है—महाभारत काल के गुरु द्रोण का सघर्ष और आधुनिक काल के अध्यापक अरविद की कथा समानातर चलती है। नाटक के काल सम्बन्धी इस विस्तार को हबीव ने प्रस्तुति के स्थान सम्बन्धी विस्तार से जोडकर एक नया आयाम प्रदान किया, प्रस्तुति बडी प्रभावपूर्ण बनी।

नया थियेटर के अतिरिक्त हबीब ने सेट स्टीफेन्स कालेज के छात्रो, पालीटेकनिक, यूनिटी थियेटर, जननाट्य मच, श्रीराम सेटर तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए नाटको का निर्देशन किया, जामिया मिलिया और हिन्दुस्तानी थियेटर के लिए तो किया ही था जिसकी चर्चा प्रारभ मे की जा चुकी है। स्टेट स्टीफेन्स और पालीटेकनीक के लिए हवीब ने अग्रेजी मे नाटक करवाये। इन नाटको मे 'दी सिगनेट रिंग आफ राक्षस' (1964 : मूल सस्कृत विशाखदत्त का मुद्राराक्षस), 'दी इम्पार्टेंस आफ बीइग अरनेस्ट' (1965 : आस्कर वाइल्ड), 'सरवेट ऑफ टू मास्टर्स' (1969 : गोल्डनी) तथा 'टेमिग आफ द श्रू' (1968-69 : शेक्सपीयर) उल्लेखनीय हैं। इनमे से प्रथम दो सेट स्टीफेन्स के लिए, 'सरवेट आफ टू मास्टर्स' पॉलीटेकनीक और सेट स्टीफेन्स के लिए तथा अतिम यूनिटी थियेटर के लिए किया। 'दी सिगनेट रिंग' विशाखदत्त के मुद्राराक्षस का पी० लाल द्वारा किया गया अनुवाद था, शेष सभी मूल अग्रेजी के नाटक थे। ब्रेश्ट का 'दी गुड परसन ऑफ सेतजुआ' 1962 मे दिल्ली ड्रामा थियेटर कैम्प मे तैयार करवाया और लोर्का के 'दी शू मेकर्स प्राडिजस वाइफ' को 1965 मे मैसूर और बगलोर मे आयोजित ड्रामा टीचर्स कैम्प मे तैयार करवाया। चूँकि ये सभी प्रस्तुतिया छात्रो या शिक्षार्थियो को लेकर थी अतः इनकी नाना सीमाए थी, पूरा समय, पूरी तैयारी सभव नही थी।

प्रदर्शन भी एक-दो होकर रह गये। वैसे इन प्रस्तुतियो मे सुषमा सेठ, आफताब सेठ, वसत कुमार, अनीता सील, रजनी सेठी, मारकस मर्च, सीलिया गोरेबूथ, रोशन और कबीर सेठ वगैरह ने अभिनय किया। 'सिगनेट रिग' मे पहली बार कुचीपुडी के पर्दे का इस्तेमाल हबीब ने किया। हबीब द्वारा तैयार करवायी गयी इन अग्रेजी प्रस्तुतियो का ऐतिहासिक महत्व है क्योकि सन् 1970 के बाद उन्होने सभवत. अग्रेजी मे नाटक नही तैयार करवाये।

जननाट्य मच के लिए तैयार किया गया 'मोटेराम का सत्याग्रह' (1988), राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए किया गया 'दुश्मन' (1989) और श्री राम सेटर के लिए किया गया 'जिन लाहौर नही देख्या वो जनम्याई नही' (1990) का विशेष महत्व है क्योकि लबे अरसे बाद उन्होने दूसरे दलो के लिए नाटको का निर्देशन किया। प्रेमचद की कहानी सत्याग्रह का नाट्य रूपातर किया सफदर हाशमी ने और निर्देशन दिया हबीब तनवीर ने, मचन हुआ जननाट्य मच के तत्वावधान मे। सन् 1991 मे सफदर की मृत्यु के बाद इसे करने का पूरा दायित्व हबीब पर आ गया और उन्होने एक प्रधान भूमिका मे अभिनय करना भी शुरू किया। सन् 1991 मे इसकी नयी प्रस्तुति तैयार की जिसमे जयत दास ने मुख्य भूमिका मे अभिनय किया। नाटक का आलेख और मचन दोनो ही भरपूर मनोरजन को दृष्टि मे रखकर किया गया है फलस्वरूप अधिकाश स्थितिया एव पात्र अतिरजित रहे, अनेक स्थलो पर भोडे भी लगे। एक पेटू ब्राह्मण का लोभ पूरे ब्राह्मण वर्ग के लोभ के रूप मे चित्रित किया गया है, उसे हास्यास्पद भी बना दिया गया है। ब्राह्मणो के खिलाफ यह पूर्वग्रह व्यक्तिगत रूप से मुझे अशोभन और अरुचिकर लगा। मैंने जिस दिन देखा था उस दिन की प्रस्तुति भी ढीली-ढाली थी।

असगर वजाहत का नाटक 'जिन लाहौर नही देख्या वो जनम्याई नही' एक अविस्मरणीय प्रस्तुति थी। हबीब द्वारा निर्देशित नाटको मे मै इसे सबसे ऊँचे दर्जे मे रखूगी। नाटक का कथानक भारत के विभाजन के तत्काल बाद की घटनाओ से सम्बन्धित है, पात्र हमारे निकट के है, विभाजन के पैतालिस वर्ष बाद भी जो हमे अपने चारो ओर मडराते दिखते है। इस नाटक मे ऐसे पात्र है जो हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य के कटु सत्य के बीच सहिष्णुता, सहअस्तित्व और सहज मानवीयता की भावना से अनुप्रेरित काम करते है और आज के विषम धर्मान्धता के युग मे हमारा पथ-निर्देश करते है।

अब कुछ बाते और हबीब के निर्देशन के बारे मे। हमे ज्ञात है कि पाचवे दशक मे हबीब ने बम्बई मे फिल्म और स्टेज पर मुख्यत ऐक्टर के रूप मे काम किया पर धीरे-धीरे वे निर्देशन की ओर झुकते गये। स्वय हबीब के शब्दो मे—

"वो भी एक जमाना था। विलायत से सीखकर आये थे। सब कुछ ताजा था, नया-नया हिसाब किताब था। मै बडे विस्तार से कापी मे नोट किया करता था किस डायलग पर मूव करेगा, कहाँ मूव करेगा, लाइट यूँ आयेगी, साउन्ड ट्रैक होगा वगैरह। मतलब प्रोडक्शन स्क्रिप्ट जैसे तैयार की जाती है, मै भी करता था। बाद मे जब छत्तीसगढी ऐक्टरो को लेकर काम करना शुरू किया तो लगा सब बेकार है। उन्हे दाये-बाये की ही तमीज़ नही थी, उन्हे समझ मे ही नही आता था कि मै चाहता क्या हूँ। मै सर पीट लेता था। कहता—बाबा, दोनो हाथो के दो अलग-अलग काम है, खानेवाला हाथ दाहिना है, दाये मुडो पर वे किसी तरह नही समझ पाते थे। बहुत दिनो बाद बराबर लोकनाटक देखते-देखते और उनके साथ काम करके समझ मे आया कि ऐसा क्यो था। असल मे लोक-कलाकार किसी नियम-कानून मे बधकर काम करने के आदी तो होते नहीं। स्टेज जब, जहाँ, जैसा मिला, उसके अनुसार आये, गये। कभी प्लैटफार्म, कभी चबूतरा, कभी कुछ नही। कभी गोल जगह, कभी चौकोर। कभी कुल आठ फीट का चबूतरा, कभी बहुत बडा। कभी दर्शक सामने, कभी तीन ओर, कभी चारो ओर। जब जैसी जरूरत हुई ढाल लिया अपने को। इतना ही नहीं जिस ओर के दर्शको से अच्छा रेसपास मिला, उस ओर मुड गये। जिस बात मे दर्शको ने रस लिया, उसे सवाद जोड-जोडकर बढाते गये। कभी एक गाय आ गयी आसपास तो उसे ही ले उडे। चुनाचे नाटक कभी पद्रह मिनिट बढ जा रहा है तो कभी बीस। हमारे एक बडे अच्छे ऐक्टर थे ठाकुरराम। बेहतरीन। उन्होने 'चरनदास चोर' मे गुरु का रोल किया था। वे बडे विटी थे, किसी बात को पकड लिया तो बस फब्तिया कसते ही चलते, बात मे से बात निकालते चलते

थे। अब तो नही रहे बेचारे, देहांत हो गया 1976 मे। तो 'गांव का नाम ससुराल' मे वे और मदनलाल ऐक्टिग करते थे। अब ठाकुरराभ को कोई बात जच गयी तो बस उसी के हो गये, सवाद बढाते गये। मदनलाल भी जबरदस्त कामेडियन थे। वह उन्हे रोकते—भैया, मेरा एक मजाक रह गया, वापिस आओ पर ठाकुरराम कहॉ जल्दी लौटनेवाले। दोनो हसाते थे पर दोनो के हसाने मे अतर था। ठाकुरराम हसाते थे दिमाग से और मदनलाल हसाते थे फीजिकल ऐक्टिग से। वह बडा अच्छा फीजिकल ऐक्टर था। जब वह बात मुझे समझ मे आयी कि इन लोक कलाकारो को नियम-कानून मे नही बाधा जा सकता तब मैने उन पर नियम-कानून लादना छोड दिया। माइड यू, लादना। मसलन उन्हे मोटे तौर पर तो नियम-कानून मानना ही पडता है पर हर बात के लिए मै ज़िद नही करता। यदि वे किसी सीन को किसी और ढग से करना चाहते है या किसी सीन मे कुछ जोडना, घटाना चाहते है तो मै उन्हे वैसा करने की छूट देता हूँ पर यह सब शुरू के रिहर्सलो के दौरान हो जाता है। उनके सारे सुझावो को देख लेता हूँ, उनमे से जो मुझे ठीक और उचित लगते है उन्हे ले लेता हू और एक-एक सीन फाइनल करता चलता हूँ। एक बार फाइनल हो गया तब फिर ऐक्टरो को उसी चौखटे मे काम करना होता है। वैसे देखा जाय तो मैं खुद ही रद्दोबदल किया करता हूँ। लबे अरसे तक जब एक ही नाटक चले तो करनेवाले और करवानेवाले दोनो मे एक तरह की शिथिलता और उबाऊपन आ जाता है। तब मै कुछ-कुछ इधर-उधर करने लगता हूँ। मुझे भी अच्छा लगता है और ऐक्टरो को भी। लबे अतराल के बाद यदि आप मेरी प्रस्तुति देखेगे तो आपको जरूर कुछ नयापन महसूस होगा।"

छत्तीसगढी कलाकारो की बाते करते-करते हबीब अपने मे खो गये। यो तो करीब चालीस वर्षो से वे उनके सम्पर्क मे है पर पिछले बीस-तीस वर्षों से उनका दिन-रात का साथ है, सब एक बृहत् परिवार के अग है। वे बोले—

"एक बात और। ये पढे-लिखे तो है नही इसलिए पढकर सवाद याद करना सभव नही। पर इनकी याददाश्त जबरदस्त होती है। एक बार सुना, सवाद याद हो गये, दो-चार बार दोहराया एकदम पक्के हो गये।

और एक बार पक्के हो गये तो फिर सब दिन की छुट्टी। मै उनका हिसाब लिखकर रखता था, उसमे घटो समय लगाता था पर उन्हे सब जबानी याद रहता था। फिदाबाई थी, हिसाब करने बैठती तो दस उस दिन, पाच सौ उस दिन, डेढ सौ उस दिन, पचीस उस दिन, इतने रुपये इतने आने की चाय उस दिन, कुल इतने रुपये इतने आने। तुम्हारा हिसाब गलत है। और मैं फिर आधा घटा समय लगाकर इस नतीजे पर पहुचता कि ये ठीक कह रही है, मेरा हिसाब गलत था। एकदम अनपढ औरतें दीवाल पर लकीर खीचकर या गाठ बाधकर हिसाब रखनेवाली पर याददाश्त जबरदस्त। इनसे नाटक तैयार करवाने का तरीका भी मैने अलग इख्तियार किया था। ऐक्टरो का चुनाव करने के पहले मै इम्प्रोवाइज करवाया करता था। कोई कहानी दे दी—एक हिरन भाग रहा है, शिकारी उसका पीछा कर रहे है, फिर तीर से उसे मारते है। या एक बार कहा कि मान लो एक घर है, साथ मे एक पेड है। पेड की डाले घर की दीवार पर फैल रही है, उससे घर को नुकसान हो सकता है। अब तुम कैसे घर को बचाओगे करके दिखलाओ। ऐक्टरो ने सीन करके दिखलाया और मैने उनमे से नाटक की जिस भूमिका के लिए जो ऐक्टर ठीक लगा, उसे चुन लिया। फिर दो-चार दिन नाटक का सीन करवाकर पक्का कर दिया। दूसरीवाली कहानी मे मेरा यह भी मकसद था कि देखूँ ये समस्या का हल क्या सोचते है। एक ने डाल मोड दी, एक ने जड के पास कुछ खोद-खादकर उसकी जडो को थोडा मोड दिया। एक ने घर की दीवाल थोडी खिसकाकर समस्या का समाधान किया। मुझे बहुत अच्छा लगा कि किसी ने पेड को काटने की बात नही सोची, उसे केवल थोडा इधर-उधर करना चाहा। अतिम ने तो वह भी नही किया, घर को ही सरका दिया। शायद यह प्रवृत्ति हमे शहरी कलाकारो मे नही मिलती। अपनी धरती, गाव, पेड-पौधे, फसल, जानवर इनसे इन कलाकारो को जितना लगाव होता है उतना शहरी लोगो को नही। मुझे जब किसी नयी चीज़ से उनके गहरे प्रेम को दिखलाना होता है तो मै उनसे कहता हूँ तुम इसे वैसे ही प्यार करो जैसे अपनी फसल को करते हो, इसे देखकर वैसे ही खुश हो जैसे धान के लहलहाते खेत को देखकर होते हो, इसे ऐसे ही दुलराओ-सहलाओ जैसे अपनी गाय के बछड़े को सहलाते हो तो उन्हे बात तुरत समझ मे आ जाती है और वे किसी आधुनिक चीज के लिए एक शहरी इसान के भावो को भी उतनी ही गहरायी से दिखला पाते है।"

हबीब तनवीर का नाटक तैयार करवाने का अपना तरीका है। चूंकि अधिकतर नाटको का आलेख उनके द्वारा लिखित या रूपातरित होता है अत प्रस्तुति की प्रक्रिया और लेखन दोनो साथ-साथ चलते है। प्रारभिक दिनो मे तो हर दूसरे निर्देशक की तरह वे भी कई-कई दिनो तक नाटक की रीडिंग करवाते थे पर जब से मुख्यतया छत्तीसगढ के कलाकारो को लेकर काम करना शुरू किया तब से दूसरा तरीका अपनाना पडा। इन कलाकारो मे से अधिकाश को लिखना-पढना नही आता, अत वे उनसे शुरू से ही नाटक करवाते है। पहले पूरे नाटक की कहानी बता दी, फिर नाटक का कोई एक सीन ले लिया। सवाद खुद पढ दिये और फिर कहा—अब करो। वे आकर इम्प्रोवाइज करते है। कुछ बाते याद रहती है, कुछ भूल जाते है। बता दिया, टोक दिया, सवाद एक बार फिर से सुना दिया, बस सीन तैयार। पढा-पढाकर नाटक तैयार करने की तुलना मे यह तरीका अधिक कारगर होता है। कहने लगे—

"अब ब्रेश्ट का गुड वोमन आफ सेतजुआ लीजिए। मुझे नही उम्मीद थी कि ये लोग उस नाटक की नाजुक-नाजुक चीजो की बारीकियो को पकड पायेगे मगर उन्होने पकडा, बखूबी पकडा। देखिए साहब, गरीबी का अपना माहौल होता है और ये कलाकार उससे बहुत अच्छी तरह वाकिफ होते है इसलिए गुड वोमन मे इन्हे कोई परेशानी ही नही हुई। ब्रेश्ट ने कही भी गरीबी को रोमैटिसाइज नही किया है। गरीब इसान है और उसमे भी एक दूसरे का खून चूसने, किसी का पैरासाइट बन जाने, घर मे पाव फैलाकर निकम्मे पडे रहने की टेनडेसी होती है। गरीब का मतलब यह नही कि उसमे सब अच्छा ही अच्छा हो—ईर्ष्या, द्वेष, लालच, छल-कपट सब गरीब इसान मे होता है, गरीबी के कारण पैदा होता है। इन्हे गरीब इसान का चित्रण करने के लिए कुछ खास करना नही पडता, सीखना नही पडता, इनके हाव-भाव तौर-तरीके सब कुछ अपने आप निकलते चलते है। नई आधुनिक बातो को समझना इनके लिए मुश्किल होता है। तो जैसा कि मैंने पहले कहा था, मै इन्हे इनके आसपास की चीजो के माध्यम से समझाता हूँ। अब एक हवाई जहाज की मशीन के लिए एक पायलट के मन मे कितना प्रेम हो सकता है यह समझना इनके लिए मुश्किल था तो इनकी कल्पना को शिफ्ट किया। मैंने कहा—मान लो यह फूल है, मान लो यह फसल है, लहलहाती धान की बालिया है। तुम

मशीन से ऐसे बाते करो जैसे यह तुम्हारी माशूका हो। गॉव मे जो चीज तुम्हे सबसे प्यारी लगती हो, उसके बारे मे सोचकर बोलो। तब उनकी समझ मे बात आई और एक बार आ गयी तो फिर किला फतह। फिर तो वे इतना उम्दा अभिनय करते है कि पूछिए मत। मुझे अपने ऐक्टरो पर नाज है, आइ ऐम प्राउड आफ देम। मै कास्टिग करने मे बहुत समय लगाता हूँ पर जब एक बार कर लेता हूँ तब फिर मुझे कभी पछताना नही पडता। अब गुड वोमन इन लोगो ने बहुत अच्छा किया। गरीबी मे हो, किसी के सिर जा पडो, चाय पीयो, रहो टाग फैलाकर और ऊपर से धौस जमाओ कि मैने तुम्हारी मदद की थी। ब्रेश्ट के दामाद एकार्ड बहुत बडे ऐक्टर है, उन्होने अजदक का रोल बेमिसाल किया पर उन्हे सब कुछ सीखकर करना पडा और हमारे ऐक्टरो ने उसे बड़े सहज रूप मे बखूबी किया।

"इस सिलसिले मे मै फिदाबाई का खास जिक्र करना चाहूगा। बहुत जबरदस्त आर्टिस्ट थी। याददाश्त कमाल की। जो भी रोल हो उसकी बारीकियो को बखूबी समझती और स्टेज पर उतारती थी। आवाज का तो कहना क्या—बुलद आवाज़, पूरा हॉल चुप हो जाता था। बेचारी जल गयी बुरी तरह नहीं तो अभी बरसो और काम करती। वैसे एक बात मैं कहूँ। केवल मैने ही इन आर्टिस्टो को सिखाया हो सो नही, मैंने भी इनसे बहुत कुछ सीखा है। इन्हे मेरी कोई बात जब ठीक नही लगती तो ये मुझे टोक देते है और उनकी बात मे सार हुआ तो मै उसे मान लेता हूँ। मगर यह सब नाटक मे तभी मुमकिन हो पाता है जब ऐक्टरो का एक दल लम्बे अर्से तक साथ रहे। तब वह आपको समझ पाता है, आप उसकी ताकत और सीमा को समझ पाते है और आपस मे देना-लेना चालू हो जाता है। छत्तीसगढ की खास चीजे तो इनसे सीखी ही, उसके अलावा भी बहुत कुछ सीखा। मेरी बेटी नगीन तो इन बे-पढे-लिखे छत्तीसगढियो की हर बात पर फिदा है—नाच-गाना, रहना-सहना, खाना-पीना, दाल-भात-चटनी सब पर वह जान छिडकती है।"

तो ऐसे है निर्देशक हबीब तनवीर जिनकी प्रस्तुतियो का देश-विदेश कायल है।

और अब लेखक हबीब तनवीर जिनके बारे मे हमलोग आम तौर पर चर्चा नही करते। इसका एक बडा कारण यह है कि उनकी रचनाए पुस्तकाकार छपकर सामने नही आयी। आगरा बाजार और चरनदास चोर अपवाद है। हममे से बहुतो को यह पता भी नही कि हबीब के लेखन का प्रारभ उर्दू की नज्मो से हुआ था। बात पाचवे दशक की है जब वे बम्बई मे थे। बडे मजे की बात है कि इस दौरान वे उर्दू, अग्रेजी और हिन्दी तीनो भाषाओ मे लेखनी चला रहे थे और तीनो मे अलग-अलग क्षेत्रो मे काम कर रहे थे। उर्दू मे गजल और नज्मे लिख रहे थे, जगह-जगह मुशायरो मे पढ रहे थे। अग्रेजी मे नाटक और फिल्मो की समीक्षाए लिख रहे थे तथा हिन्दी मे छोटे-छोटे स्ट्रीट प्ले। स्वय उनके शब्दो मे—"उन दिनो सरदार जाफरी हमे लिये-लिये फिरते थे मुशायरो मे। मुशायरा जीतना है, चलो हबीब मेरे साथ। तुम्हारे पास आवाज़ है, तरन्नुम है, गजल भी है। शिगुफ्ता कहते हो। चुनाचे हम मुशायरा जीतते फिरते थे उस जमाने मे।" सरदार जाफरी जैसे शायर का यह कथन कवि हबीब की काबलियत के लिए बहुत बडा सर्टिफिकेट था। सन् '45 के आसपास शुरू हुआ कविता लिखने का यह क्रम आज तक चालू है। हबीब ने बतलाया कि उन्होने गजलो से शुरुआत की और उर्दू की रची-बसी क्लासिकल गजलो के साथ ही छ नये मीटरो का भी इस्तेमाल किया जिसे लोगो ने बहुत पसद किया। गजल और शेर अभी भी लिखते है, पढते है वैसे पिछले वर्षों मे उनकी कवित्व शक्ति का परिचय उनके द्वारा लिखे या रूपातरित नाटको के गानो के रूप मे मिलता है। अपने काव्य-लेखन के बारे मे हबीब ने बडी ईमानदारी से कहा कि—

"शुरू-शुरू मे सब कुछ ठीक लगता था पर पहले फेज के बाद कई बार मुझे लगता कि मेरी गजल मे किसी और की बात की ईको है। लोग तारीफ करते थे। तमाम नयेपन और लोगो की तारीफ के बावजूद मुझे शक होने लगा कि मेरी शायरी मे दूसरो का थोडा ईको है वह चाहे उस्तादो का हो चाहे किसी गज़ल का चाहे किसी और बात का। मुझे लगा मुझे वह नही कहना चाहिए। उसके बाद से मैंने यह कसौटी अपने लिए तै की कि यदि कोई चीज, कोई बात मेरी अपनी प्रेरणा से मन मे उठेगी, तो उसे ही कहूँगा, नही तो नही। पहले तो कहने को कमीशन होता था—कुछ अच्छा कहा, बहुत कुछ बकवास। अब साल दो साल मे कोई बात सूझती है तो कहता हूँ नही तो चुप रहता हूँ। असल मे इधर पिछले बीस सालो

से मै दो-तीन तरह की कविताए कर रहा हूँ। एक वो गीत है, जो मेरे नाटको मे गाये जाते है। दूसरी कुछ ऐसी कविताए है जिनका ताल्लुक ड्रामे से है, जो अपने आप मे ड्रामा है जैसे रामनाथ का जीवन चरित्र। तीसरी वे कविताए है जिनका ताल्लुक ड्रामे से नही है, जो किसी विचार को, आइडिया को, मेरे सोच को सामने लाती है। मेरे लिए इनकी सबसे ज्यादा अहमियत है।"

हबीब की नज्मे, गज़ले उर्दू के रिसालो मे तो बराबर छपती रही पर अभी तक पुस्तक के रूप मे उनका प्रकाशन नही हुआ है। कारण उनका आलस्य और समय का अभाव। छपने के पहले जरूरी है कि उनमे थोडा सशोधन किया जाय, कुछ जोडा जाय, कुछ घटाया जाय पर यह सब करने की फुर्सत ही नही। राधाकृष्ण प्रकाशन के ओमप्रकाश जी आगरा बाजार का आलेख जबरदस्ती उठा ले गये और उन्होने छाप दिया तो छप गया वरना वह भी न छपता। उसमे कुछ भूले रह गयी थी जिनका दूसरा सस्करण छपने के पहले सशोधन करने के लिए प्रकाशको ने बहुत कहा पर हबीब कर ही नही पाये चुनाचे उन्होने वैसा का वैसा छाप दिया।

सन् 1988 मे प्रकाशित चरनदास चोर सभवत एकमात्र नाटक है जिसका आलेख हबीब तनवीर तैयार कर सके और प्रकाशन के लिए दे सके। अवश्य ही चरनदास चोर की प्रस्तुति की लोकप्रियता ने उन्हे ऐसा करने को बाध्य किया होगा। राजस्थान की एक मशहूर लोककथा पर आधारित यह नाटक कैसे प्रारभ हुआ, कैसे विकसित हुआ और कैसे अब अपने अतिम रूप मे स्थित हो गया है, इसकी चर्चा चरनदास चोर की प्रस्तुति के प्रसग मे की जा चुकी है। नाटक के सवाद खडी बोली हिन्दी मे है, कही-कही ग्रामीण शब्दो का प्रयोग किया गया है या भाषा मे ग्रामीणता का पुट दिया गया है। नाटक मे प्रयुक्त गीत सब छत्तीसगढी मे है—कुछ लोकगीत, कुछ सतनामियो द्वारा गाये जानेवाले गीत-भजन। गीतो की भाषा ठेठ छत्तीसगढी है, हिन्दी भाषा-भाषियो को भी आम तौर पर समझने मे कठिनाई होती है पर उसका मूल भाव सहज ही सम्प्रेषित हो जाता है।

अग्रेजी का इस्तेमाल हबीब तनवीर ने समीक्षाओ के क्षेत्र मे किया। इसका पहला दौर दूसरो की प्रस्तुतियो की समीक्षा का था जिसका सम्बन्ध मुख्यतः इनके बम्बई प्रवास और विदेश से लौटने के बाद दिल्ली मे हुई

प्रस्तुतियो की समीक्षा से था। बम्बई मे लिखी गयी समीक्षाए फिल्मो की भी हुआ करती थी। यह दौर करीब बीस-पचीस वर्षो का था। दुर्भाग्य से समीक्षाओ मे से एक भी देखने को नही मिली। हबीब के पास है नही और उनके सग्रह का एकमात्र उपाय है उस समय के दैनिक अखबारो को छानना। बहरहाल स्वय हबीब के अनुसार वे बहुत तीखी होती थी और उनके शुभचितको ने यह भी कहा था कि ऐसी तीखी आलोचना मत करो खासकर फिल्मो की, फिल्मवाले तुम्हारे पीछे गुडे लगा देगे पर हबीब ने सुना नही, जो कहना था निर्भीक कहते रहे। करीब बीस वर्षो तक यह क्रम चला फिर उन्हे शक होने लगा कि कही ऐसा तो नही कि मेरा निर्देशक मेरे समीक्षक पर हावी हो रहा है, मै समीक्षा करते समय कही अपनी कल्पना को सामनेवाली प्रस्तुति पर लादकर तो निर्णय नही कर रहा हूँ ? जब यह शक बार-बार मन मे आने लगा तो उन्होने समीक्षा करना छोड दिया। हबीब की यह मूल ईमानदारी विशेष ध्यान देने योग्य है। गजल लिखते समय जहाँ लगा कि उसमे आये भाव या उसकी शैली पूरी तरह अपनी नही है, उस पर किसी और की छाया है, उन्होने गजल लिखना कम कर दिया लिखा तभी जब बात पूरी तरह अपने मन से उपजी। समीक्षा के क्षेत्र मे भी वही कि जहाँ लगा कि मै पूरी ईमानदारी नही बरत रहा हूँ, शायद मेरा निर्णय इस बात से गाइड हो रहा है कि मै इस नाटक को करता तो कैसे करता बजाय इसके कि अपने आप मे प्रस्तुति कैसी हुई है, उन्होने समीक्षा करना छोड दिया। ऐसा विवेक कम लोगो मे दिखलाई पडता है।

सातवे और आठवे दशक मे हबीब ने अपनी प्रस्तुतियो के बारे मे बराबर लिखा, विस्तार से लिखा। उनके लेख एव विचार इनैक्ट तथा नटरग मे बराबर छपे। इसी दौरान लबे-लबे इटरव्यू भी छपे। हबीब ने दूसरो के बारे मे एकदम न लिखा हो सो नही पर कम लिखा। परिशिष्ट मे सकलित उनकी कुछ रचनाए और साक्षात्कार हबीब की दृष्टि को विस्तार से प्रस्तुत करते है। दृश्याकन, पारसी थियेटर, भारतीय प्रयोग (दी इडियन एक्सपेरिमेन्ट), शिवपुरी का राजहस आदि विषयो के साथ ही उन्होने मिट्टी की गाडी की अपनी प्रस्तुति, सस्कृत नाटको तथा ब्रेश्ट और लोर्का के नाटको को प्रस्तुत करते समय उठनेवाले मुद्दो का विस्तार से विवेचन किया है। इन लेखो मे प्रसगानुसार अपनी जडो की ओर जाने का आग्रह, नाट्य प्रशिक्षण, अभिनय मे मातृभाषा का महत्व, लोक कलाकारो की शक्ति और ऊर्जा, शहरी

कलाकारो की सीमाओ आदि के बारे मे भी विचार व्यक्त किये है। हबीब तनवीर को समझने के लिए आवश्यक है कि हम उनकी इन रचनाओ को पढे, इनमे व्यक्त विचारो को गुने और तब उनके बारे मे अपनी धारणा बनाये।

लेखन की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व रहा है नाट्यकार हबीब तनवीर का। यद्यपि नाट्यलेखन के क्षेत्र मे उनका योगदान अत्यत महत्वपूर्ण है तथापि मूल्याकन बहुत कठिन। किसी कृति का मूल्याकन करने के लिए यह आवश्यक है कि वह आपको उपलब्ध हो और एकाधिक बार, नाना दृष्टियो से आप उसका गभीर अध्ययन करके अपना विवेचन प्रस्तुत करे। पहली कठिनाई यही आ खडी होती है क्योकि हबीब तनवीर द्वारा लिखित, रूपातरित, भाषातरित या अनूदित नाटको के आलेख उपलब्ध नही—न मुद्रित रूप मे न हस्तलिखित रूप मे। 'आगरा बाजार' और 'चरनदास चोर' अपवाद है। 'आगरा बाजार' को इनके मित्र ओप्रकाशजी ने जबरदस्ती राधाकृष्ण प्रकाशन की ओर से प्रकाशित किया। पहले सस्करण की समाप्ति के बाद अपेक्षित सशोधन भी हबीब करके नही दे सके फलस्वरूप द्वितीय सस्करण पुनर्मुद्रण ही होकर रहा गया—अपनी खामियो के साथ। चरनदास चोर काफी बाद मे सन् 1988 मे छपा। अब स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यो? मुझे इसके एकाधिक कारण समझ मे आते है। पहला यह कि नाट्यालेख तैयार करते समय निर्देशक हबीब तनवीर नाट्यकार हबीब तनवीर पर हावी रहते है और कभी भी वे एक नाट्यकार की हैसियत से बिना किसी प्रकार के बाहरी दबाव के—वह चाहे कलाकारो का हो चाहे दर्शको का—स्वतत्र रूप से नाट्य रचना नही करते। नाटक लिखते समय अपने नाट्यदल के कलाकार सामने रहते है, उन कलाकारो की शक्ति, ऊर्जा और सीमाए सामने रहती है और ये सब न केवल उनके पहले प्रारूप को प्रभावित करती है वरन् रिहर्सल के दौरान आलेख मे निरतर परिवर्तन और परिवर्धन के लिए प्रेरित करती रहती है, बाध्य भी करती है। स्वय हबीब ने एक बार बातचीत के दौरान कहा कि "मेरी प्रस्तुतियो मे निरतर बदलाव आता रहता है, लबे समय बाद आप देखे तो आपको प्रस्तुति मे बहुत कुछ नया लगेगा। एक ही ढग से करते-करते मै भी ऊब जाता हूँ और मेरे कलाकार भी।" नाट्यकार और प्रस्तुतिकर्त्ता एक ही व्यक्ति के होने के कारण वह जब चाहे जो परिवर्तन कर लेता है। मेरा अनुमान है कि यह परिवर्तन कभी पूरी तरह पूरे आलेख मे खपता होगा, कभी यो ही थिगली सा रह जाता होगा। करने

और देखने के समय तो नही पता चलता पर जब आप उसे लिखित रूप मे रखने चलते है तब सशोधन अनिवार्य लगता है। यह परिवर्तन-परिवर्धन केवल हबीब करते हो, वही नही, उनके कलाकार भी करते चलते है। फलस्वरूप किसी भी कृति को मुद्रण के लिए तैयार करना उनके लिए समस्या रहती है। पहले वे प्रोडक्शन कापी तैयार किया करते थे, बाद मे वह भी छोड दिया क्योकि उनके नया थियेटर के छत्तीसगढी कलाकार अपने ढग से चलते-फिरते काम करते है, नियमो मे बाधकर उनसे काम नही करवाया जा सकता।

हबीब के नाटको के मुद्रित न होने का सभवत एक और कारण है भाषा। 'आगरा बाजार', 'मेरे बाद' तथा 'राजा चबा और चार भाई' जैसी उर्दू की रचनाओ को छोडकर शेष सभी छत्तीसगढी बोली मे है। बोलियो का बहुत कुछ शब्दो के उच्चारण, बलाघात, वाक्यो के आरोह-अवरोह आदि पर निर्भर करता है। उन्हे किसी भी लिपि मे सही-सही नही उतारा जा सकता। हबीब तनवीर के नाटको को देवनागरी लिपि मे प्रस्तुत करना होगा जिसमे अक्षर—सकेत-चिन्हो—का विकास मूलत खडी बोली हिन्दी के अनुकूल है, हिन्दी क्षेत्र की बोलियो के अनुकूल नही। और उन्हे पढेगा कौन ? छत्तीसगढी बोलचाल की भाषा है, उसमे लिखित साहित्य बहुत कम है अत पाठक भी नही के समान है। फिर नाटक देखते समय शब्दो के माध्यम से जो कुछ कहा जाता है उसे अभिनेता के हाव-भाव स्पष्ट करते चलते है, जो भाषा की दूरी के कारण नही समझ मे आता, वह अभिनय (आगिक और सात्विक) के माध्यम से सम्प्रेषित हो जाता है। केवल पढकर उन बातो को समझना कठिन होगा कम से कम दूसरे क्षेत्रवालो के लिए। ऐसी स्थिति मे—नाटको के लिखित आलेख उपलब्ध न होने की स्थिति मे—हबीब तनवीर की रचनाओ का मूल्याकन कठिन है फिर भी जो कुछ स्वय उनके मुह से सुना है, जो स्वय मैने देखा और अनुभव किया है तथा दूसरे लोगो ने उनकी रचनाओ के बारे मे जो लिखा है उनके आधार पर हबीब के नाटको का सीमित रूप मे विवेचन किया जा रहा है।

हबीब तनवीर के नाटको मे हमे दो प्रकार की रचनाए प्राप्त होती है—मौलिक एव आधारित। इन दोनो कोटियो को हम पुन दो-दो भागो मे बाट सकते है—पोस्टर नाटक और पूर्णांग नाटक तथा गजलो और नज्मो पर

हबीब द्वारा लिखे गये दूसरो की रचनाओ पर आधारित नाटको की सख्या बडी है। इनमे सबसे पहले चर्चा 'आगरा बाजार' (1954) और 'मेरे बाद' (1968) की क्योकि ये दोनो विशिष्ट रचनाए थी और इनके सृजन के पीछे कविहृदय हबीब का विशेष योगदान था। नजीर अकबराबादी की नज्मो पर आधारित 'आगरा बाजार' नाटक है भी और नही भी क्योकि इसमे न कोई सगठित कथानक है और न ही कोई केन्द्रीय पात्र। लेखक का उद्देश्य आगरा के एक बाजार का चित्र प्रस्तुत करना था जो वह छोटी-छोटी घटनाओ, बाजार लगाकर बैठनेवाले खोमचेवालो, दुकानदारो, खरीद-फरोख्त के लिए आनेवाले लोगो के माध्यम से बखूबी करता है। बाजार मे बैठनेवाली एक बाईजी का कोठा सारे वातावरण को रसीला बनाता है तो बदर का नाच मनोरजक। कथागायको के माध्यम से लेखक बिखरे सूत्रो को जोडता भी है और आस-पास के माहौल और घटनाओ पर टिप्पणी भी करता चलता है। नाटक का उत्तरार्द्ध गभीर हो गया है, हम चाहे तो बोझिल भी कह सकते है। नजीर अकबराबादी की प्रचुर नज्मो का पाठ इस अश मे करवाया गया है। वह कही तो कथाप्रवाह को आगे बढाता है पर अधिकतर उसे बाध देता है। नाटक का आलेख अभिनेय है, हर पल जिये जाने की अपेक्षा रखता है। वैसे शायद यह कहना अनुचित न होगा कि इस नाटक की सफल प्रस्तुति के लिए हबीब जैसे आगरा के रीति-रिवाज और वातावरण से परिचित, मुसलमानी तहजीब के जानकार और कुशल निर्देशक का होना आवश्यक है अन्यथा प्रस्तुति बिखर जायेगी।

'आगरा बाजार' यदि नजीर अकबराबादी की नज्मो पर आधारित नाटक था तो 'मेरे बाद' गालिब की गजलो पर। शायर गालिब हबीब तनवीर को बहुत प्रिय थे और वे बहुत दिनो से उनके जीवन पर आधारित एक नाटक लिखना और खेलना चाहते थे। धुघले-धुधले चित्र मन मे बनते-बिगडते रहे और उन्हे कोई निश्चित रूप देने का मौका नही मिल रहा था कि आ गयी गालिब शतवार्षिकी। कमेटी की ओर से निर्णय हुआ कि गालिब के जीवन पर आधारित एक नाटक खेला जाय और उसके लिए प्रस्ताव रखा गया हबीब तनवीर के सामने। उन्हे तो मन-मागी मुराद मिल गयी। झट प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। नाटक प्रस्तुत करने के लिए पाच हजार रुपये मिलते, उसका लोभ भी था। हबीब जुट गये नाटक लिखने मे। नाटक का आलेख तैयार करना आसान न था क्योकि हबीब गालिब को एक

भिन्न रूप मे चित्रित करना चाहते थे। उनके मन मे गालिब एक ट्रैजिक व्यक्ति के रूप मे आते थे, वे उन्हे उसी रूप मे चित्रित करना चाहते थे, हीरोइक गालिब के रूप मे नही। नाटक एटी गालिब तो नही था पर दुखात था, कोर्ट मे गालिब का अपमान होता है और उस धक्के से उनकी मृत्यु हो जाती है। एक तो यह कथानक परम्परा से हटकर था फिर जन्मशतवार्षिकी के अवसर पर गालिब के दुखद अत को दिखलानेवाला नाटक खेला जाना सबको पसन्द आयेगा या नही यह डर हबीब के मन मे था इसलिए अत तक उन्होने कमेटी को नाटक का स्क्रिप्ट भेजा ही नही। बहाने बनाते रहे कि स्क्रिप्ट पर काम हो रहा है, नाटक का लेखन और तैयारी दोनो साथ-साथ चल रहे है, इस लिए आलेख नही भेज सकता। नाटक खेलने का दिन आया, नाटक शुरू हुआ पर खत्म होने को ही न आये। आलेख तीन-चार घटो का हो गया था। न आलेख को देखने का समय मिला था न उसके खेलने मे लगने-वाले समय का अदाज था। लोग उठकर चले गये बीच मे ही। इस नाटक मे हबीब ने गालिब की प्रचुर गजलो का पाठ किया-करवाया। उनका कहना है कि गजल पढी जानी चाहिए तभी उसका पूरा अर्थ स्पष्ट होता है। गाने मे लोग तारीफ स्वर और काफिये की ज्यादा करते है, गजल के अपने भाव या बुनावट की कम। इस नाटक मे उन्होने बेहतरीन उर्दू का इस्तेमाल किया। उनका कहना है कि 'मेरे बाद' लिखते समय 'फसाने आजाद' के लेखक रतननाथ दर सरशार की भाषा उनके सामने थी और उसके जैसी ही रवानगी भरी उर्दू उन्होने इस नाटक मे लिखने का प्रयत्न किया जिसमे उन्हे पूरी सफलता मिली। काट-छाटकर इस नाटक को नये सिरे से करने की तमन्ना अभी भी उनके मन मे है पर अब वैसे कलाकार उनके पास नही जो दिल्ली की उर्दू जुबान को अधिकार के साथ बोल सके।

नज्मो और गजलो पर आधारित नाटको के बाद नबर आता है उन नाटको का जो लोककथाओ या आधुनिक युग की कहानियो पर आधारित है। इन नाटको को 'आगरा बाजार' और 'मेरे बाद' के बाद स्थान देने का एक कारण है। इन दोनो नाटको की रचना करते समय उनके सामने नजीर और गालिब जैसे शायरो की बेहतरीन नज्मे और गजलें थी और उन्हे केन्द्र मे रखकर वे उन शायरो के जीवन और उनके जमाने को प्रस्तुत करना चाहते थे। सभवत. इन नाटको को लिखते समय उनके सामने न कलाकार थे, न अपने दल का भविष्य, न दर्शक। एक सवेदनशील कवि ने दूसरे श्रेष्ठ

कवियो की रचनाओ के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करनी चाही नाटक के रूप मे। श्रेष्ठ कविताओ के कारण इन नाटको को एक विशेष तरह की गरिमा मिली, नाटक का स्तर ऊचा उठा। अन्य नाटको के क्षेत्र मे ऐसा नही हुआ। 'शतरज के मोहरे' (1948) एक मात्र ऐसा नाटक है जो मुशी प्रेमचद जैसे कुशल कथाकार की कहानी 'शतरज के खिलाडी' पर आधारित है अन्यथा अन्य सभी सात पैसे (1959), अर्जुन का सारथी (1970), गाव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद (1973), ठाकुर प्रिथिपाल सिह (1974), चरनदास चोर (1975), बहादुर कलारिन (1978), सोनसागर (1980), हिरमा की अमर कहानी (1985) आदि लोककथाओ पर आधारित है। लोककथाओ की अपनी शक्ति होती है तो उनकी सीमाएँ भी होती है। आम तौर पर सब कुछ बडे सहज रूप मे कह दिया जाता है, भावगत जटिलता या अभिव्यक्ति का पेचीदापन नही रहता, बहुत बार गभीरता का भी अभाव रहता है। फलस्वरूप इन कथाओ पर आधारित नाटको मे सरस कथा का मजा तो आता है, बहुत बार मनोरजन भी होता है पर उससे अधिक विशेष कुछ नही। चूकि इनमे से किसी का भी आलेख उपलब्ध नही अतः नाटक के स्तर पर इन रचनाओ का सम्यक विवेचन सभव नही तथापि दो-एक बाते निस्सकोच कही जा सकती है। सबसे पहली यह कि हबीब तनवीर ने लोक-कथाओ को अपने नाटको का आधार बनाया है, उनका नाट्य रूपातर नही किया है। नाट्यकार हबीब की तारीफ इस बात मे है कि उन्होने एक प्रचलित लोककथा के साथ अपनी कल्पना और नाटकीय क्षमता का समन्वय करके उसे एक शक्तिशाली नाट्यकृति का रूप दिया जो मचन की कसौटी पर खरी उतरी। कहानी का मूल आधार लोकजीवन से लिया गया होने पर भी वह आधार मात्र रहा है, उस पर नाट्यभवन का निर्माण करने का पूरा श्रेय हबीब को है। दूसरी बात यह कि ये सभी रचनाए रगमच को दृष्टि मे रखकर लिखी गयी थी। नाच-गानो के सयोजन द्वारा इन आलेखो को टोटल थियेटर के लिए उपयुक्त बाना पहनाया गया और उस दृष्टि से ये सभी नाटक मच पर अत्यत लोकप्रिय हुए। और तीसरी बात यह कि हबीब के नाट्य लेखन मे धीरे-धीरे परिपक्वता आती गयी है। 'आगरा बाजार' का बिखराव और 'गाँव का नाम ससुराल मोर नाम दमाद' की चुटकुलेबाजी धीरे-धीरे अधिक सश्लिष्ट कथानक का रूप लेती गयी है और 'हिरमा की अमर कहानी' मे उसका मैच्योर रूप हमे देखने को मिलता है। यह सही है कि मूलत अपने दल के लिए लिखने के कारण जिसमे लोक कलाकारो की प्रधानता है और जिनकी क्षमता

का पूरा उपयोग नाच-गान तथा ऊर्जामय अभिनय करने मे ही किया जा सकता है, हबीब के नाटक—वे चाहे मौलिक हो या आधारित—सीमाबद्ध हो गये है। हबीब को लेखन के लिए मुख्यत लोककथाओ का आधार लेना पडा है ताकि उनके कलाकार अपने को सहज महसूस कर सके, ऊर्जामय नाच-गान कर सके। उनकी क्षमता का उपयोग ऐसी रचनाओ मे ही किया जा सकता था। सीधी सी बात है, नाट्यदल की सीमाओ ने हबीब के नाट्यलेखन को सीमाबद्ध किया। यदि नया थियेटर मे मुख्यत छत्तीसगढी कलाकार न होते तो अवश्य ही हबीब अपने नाटको के कथानको को लोककथाओ तक सीमित न रखते और कुछ नाटक ऐसे भी लिखते जिनमे नाच-गाने न होते।

एक और बात भाषा की भी है। छत्तीसगढी कलाकारो के कारण ही हबीब ने अपने अधिकाश नाटको की भाषा छत्तीसगढी रखी है। यद्यपि सारे हिन्दी प्रदेश मे थोडी चेष्टा करके दर्शक छत्तीसगढी समझ लेता है पर उर्दू मे अच्छी महारत रखनेवाले हबीब ने उर्दू, खडी बोली या दिल्ली की उस जुबान मे बहुत कम नाटक लिखे या खेले जो सामान्य स्थिति मे शायद करते ही। निर्देशक हबीब तनवीर नाट्यकार हबीब तनवीर को निरतर नियत्रित करता रहा। नाटको मे नाच-गाने का समावेश अनिवार्य-सा हो गया। दूसरो के नाटको का निर्देदन करते समय यदि उनमे गाने नही है तो हबीब गाने जोड देते है जैसे असगर वजाहत के 'जिन लाहौर नही देख्या वो जनम्याई नही' और मैक्सिम गोर्की के 'दुश्मन' मे। ये दोनो नाटक क्रमश श्री राम सेंटर रेपरटरी और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए हबीब ने तैयार करवाये और उनमे नाच-गाने का समावेश किया। यह अब उनके लिए अनिवार्य-सा हो गया है, उसके बिना उन्हे प्रस्तुति सूनी-सूनी लगती है। वैसे यह सही है 'जिन लाहौर मे' फिराक गोरखपुरी, अमृता प्रीतम, राही मासूम रजा और नाजिर काजिमी की कविताओ का बडा खूबसूरत प्रयोग किया गया था, उन्होने नाटक को प्राणवान एव प्रभावपूर्ण बनाया था।

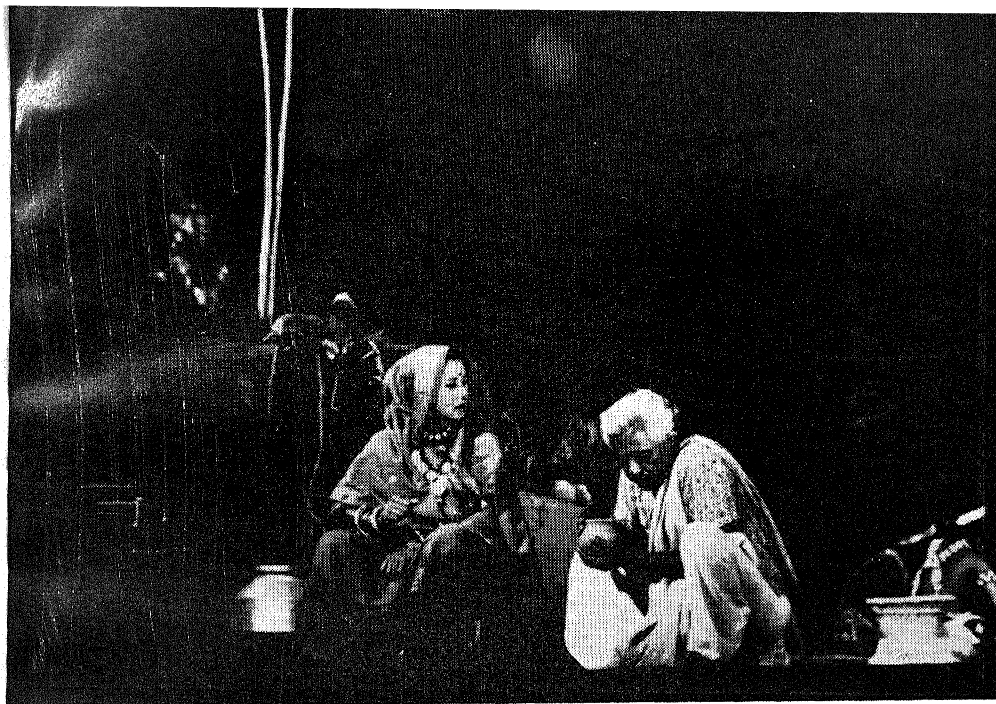
हबीब तनवीर के मौलिक और आधारित नाटको के बाद स्थान आता है रूपातरित नाटको का। रूसी नाटक 'दी फेमिनिन टच' का भारतीय रूपातर 'जालीदार पर्दे' उनका पहला रूपातर है जो सन् 1952 मे बम्बई मे खेला गया। एक अग्रेजी एकाकी पर आधारित 'फासी', मोलियर के 'बुर्जुआ जेंटलमैन' पर आधारित 'मिर्जा शोहरत बेग' (1959, जो बाद मे लाला शोहरत

राय के नाम से छत्तीसगढी बोली मे रूपातरित किया गया), बर्ल्टोल्ट ब्रेश्ट के 'दी गुड परसन आफ सेतजुआन' का रूपातर 'शाजापुर की शातिबाई' (1978) और गोगोल के 'दी गवर्नमेंट इसपेक्टर' का रूपातर 'शाह बादशाह' (1980, तोश साहनी के अनुवाद पर आधारित) विशेष उल्लेखनीय है। यद्यपि ये सभी रचनाए नाटक थी पर हबीब ने अनुवाद न करके उनका भारतीय रूपातर किया और प्रथम दो को छोडकर सभी को छत्तीसगढी भाषा मे (भी) रूपातरित किया। ये रूपातर अनुवाद के निकट होते हुए भी अनुवाद नही है क्योकि इनमे थोडा हेर-फेर किया गया है और ऐसा करने मे ही हबीब का मौलिक योगदान मानना चाहिए। यद्यपि यह सही है कि किसी विदेशी नाटक का अनुवाद चाहे वह खडी बोली हिन्दी मे हो या बॉग्ला मे या फिर किसी क्षेत्रीय बोली मे कोई अतर नही पडना चाहिए पर अतर पडता है। हमारे देश मे—और शायद सर्वत्र—बोलियो का सम्बन्ध क्षेत्र विशेष से होने के साथ ही समाज के वर्ग विशेष से भी होता है। बोलियो के बोलनेवाले मुख्यत ग्रामवासी होते है या समाज के निम्न तबके के लोग होते है, शहरी और पढे-लिखे लोग आम तौर पर भाषा का इस्तेमाल करते है। बॉग्ला के नाटक मे नौकर-चाकर या किसान, ड्राइवर आदि भोजपुरी बोलेंगे या ऐसी भाषा बोलेंगे जिसमे भोजपुरी या अन्य किसी बोली का पुट हो। यद्यपि भोजपुर क्षेत्र मे उच्च वर्ग के पढे-लिखे लोग भी भोजपुरी मे बातचीत करते है पर नाटको मे यह चलन-सा हो गया है। विदेशी नाटको के रूपातर मे जब हबीब छत्तीसगढी बोली का इस्तेमाल करते है तब पात्रो के साथ भाषा का तालमेल बैठाने मे आम दर्शको को असुविधा होती है, एक पढे-लिखे सभ्रात टिपटाप व्यक्ति से छत्तीसगढी सुनने की अपेक्षा उसे नही होती। लाला शोहरत राय मे यह स्थिति खटकी थी, शाह बादशाह में भी खटकी होगी। चूकि आलेख सामने नही है इसलिए विस्तृत विवेचन सभव नही तथापि यह तथ्य सामने आया था। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि हबीब ने देश-विदेश के नाटको को आम जनता तक पहुचाने का महत्वपूर्ण कार्य किया।

इसके अतिरिक्त हबीब ने भास के तीन नाटक दूतवाक्यम्, पचरात्रम् और और उरुभगम् का भी छत्तीसगढी मे रूपातर किया और इन्हे प्रस्तुत किया। अनूदित नाटको मे एक मात्र 'मिट्टी की गाडी' है। शूद्रक के नाटक 'मृच्छकटिक' का पहला अनुवाद हबीब ने सन् 1958 मे किया और हिन्दुस्तानी

थियेटर के लिए उसका निर्देशन किया। सन् 1977 मे उन्होने इसका छत्तीसगढी मे रूपातर किया और उसे खेला। मृच्छकटिक के अनुवाद और प्रस्तुति के सम्बन्ध मे विस्तृत चर्चा पहले की जा चुकी है। प्रस्तुत प्रसग मे केवल इतना कहना अभीष्ट है कि मिट्टी की गाडी मे अधिकाश पात्रो के प्रसग मे तो छत्तीसगढी अनुकूल बैठी तथापि वसतसेना-चारुदत्त के प्रसग मे लोकभाषा ने पात्रो की सुप्रतिष्ठित और सुपरिचित गरिमा को व्याघात पहुचाया, लोककलाकारो की जीवन्तता और ऊर्जा ने नाटक को ऊर्जामय तो बनाया पर नाटक और उसके प्रेम-प्रसगो की कोमलता और कवित्व के आडे आयी। स्वय हबीब इस बात को स्वीकार करते है कि कवित्व का अनुवाद कठिन होता है और बडे से बडे अनुवादक यही कहते है कि मूल का सौदर्य अनुवाद मे नही आ पाया है। इस नाटक मे हबीब ने एक और प्रयोग किया —शूद्रक द्वारा गद्य मे लिखे गये सवादो के आधार पर गीतो की रचना सरल हिन्दी मे करवाई और उन्हे गवाया। हबीब का यह नाटक और प्रस्तुति बहुत लोकप्रिय हुई और अभी भी इसका मचन होता रहता है।

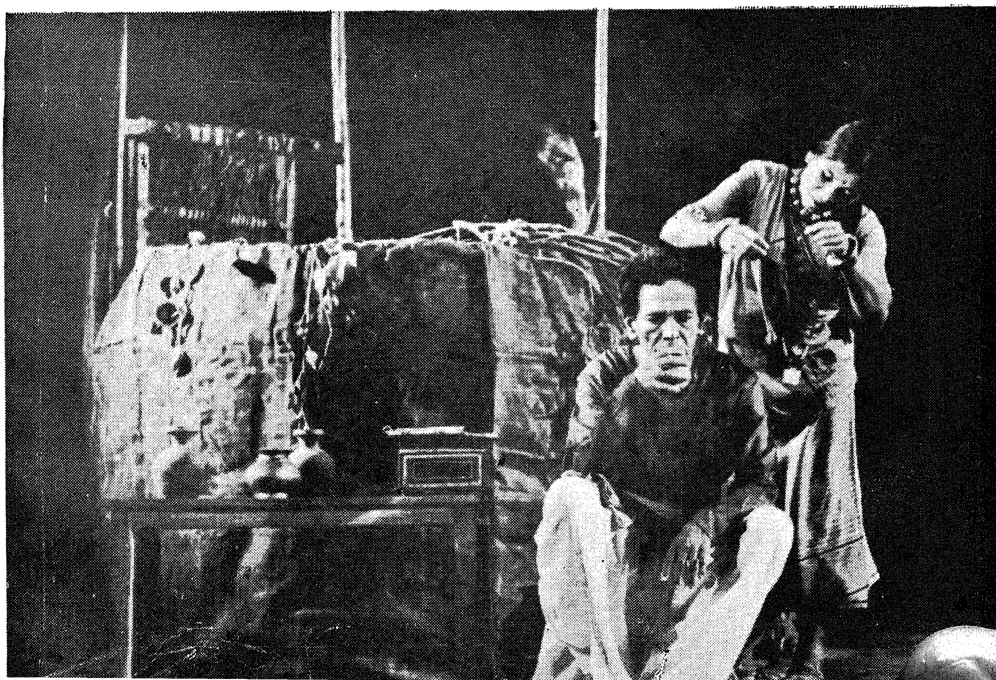




फिदाबाई और भुलवाराम/बहादुर कलारिन 1978

छायाचित्र : निमाई घोष, कलकत्ता

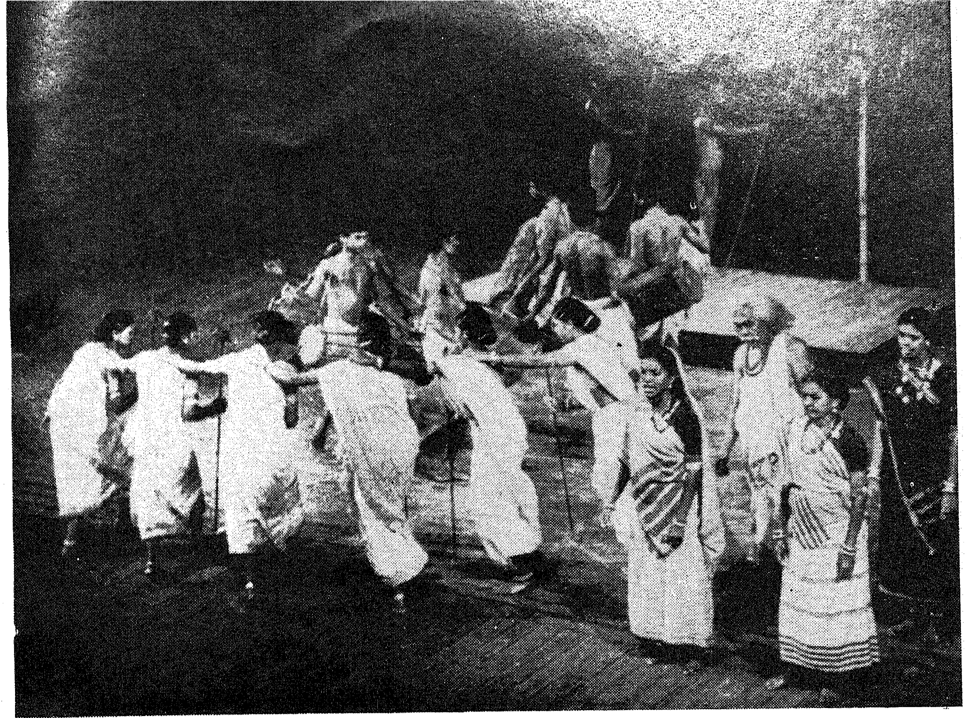
हबीब तनवीर और फिदाबाई/बहादुर कलारिन 1978





फिदाबाई/शाजापुर की शांतिबाई 1978

छायाचित्र : निमाई घोष, कलकत्ता

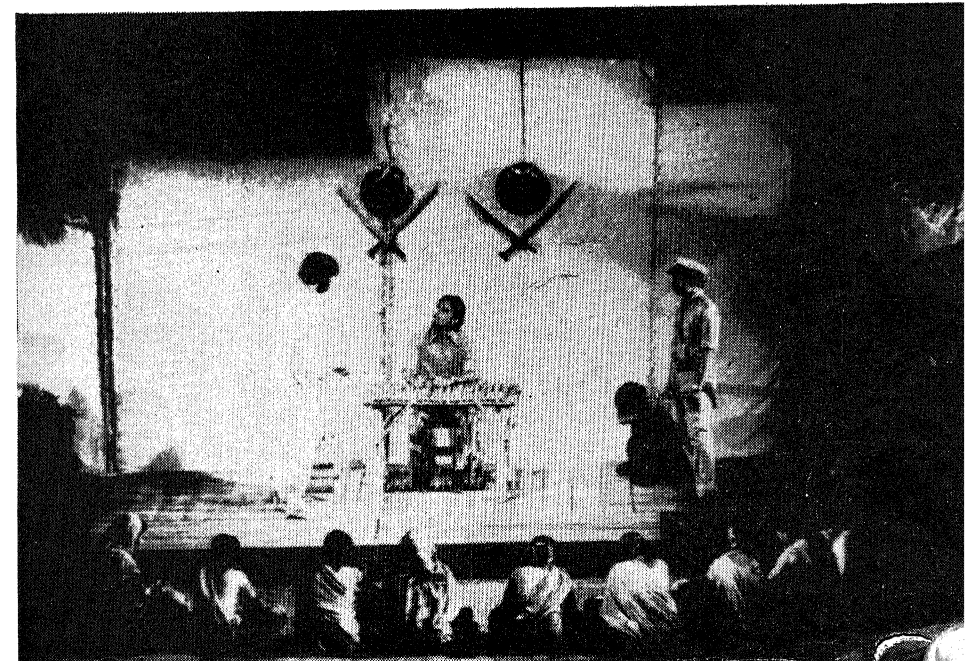


हिरमा की अमर कहानी 1985

हबीब तनवीर और फिदाबाई/शाजापुर की शांतिबाई 1978



हिरमा की अमर कहानी 1985



कलाकारों के क्वार्टर में
रिहर्सल करवाते हुए
हबीब तनवीर

छायाचित्र
अविनाश पसरीचा, दिल्ली



जहाँ तक परिवार का सवाल है हबीब तनवीर खुशकिस्मत है कि मोनिका मिश्र के रूप मे उन्हे ऐसी पत्नी मिली जो खुद थियेटर में बहुत रुचि रखती है। बातचीत के दौरान हबीब ने निस्संकोच स्वीकार किया कि वे जो इतना काम कर पाये उसकी वजह थी मोनिका जी का सहयोग और थियेटर मे उनकी गहरी रुचि हबीब साहब के शब्दो मे—

"मेरा तो ओढना-बिछौना ही थियेटर है। यदि मेरी शादी किसी और से हुई होती जो थियेटर को स्वीकार नही कर पाती तो मेरे लिए थियेटर करना मुश्किल हो जाता। मैने बहुतो को देखा है जो इस क्लैश के कारण या तो खुद टूट जाते है या फिर फैमिली टूट जाती है। मैने यह नही देखा कि थियेटर मे एक हो और दूसरा न हो। उससे जिंदगी मे बडी बदमजगी आ जाती है। मै समझता हूँ कि हमारी जो निभ पायी उसका एक बडा कारण थियेटर मे मोनिका की गहरी दिलचस्पी है। इनका सबसे बडा योगदान यह है कि इन्होने मुझे न केवल थियेटर करने की इजाजत दी वरन् हर काम मे साथ रही, अभी भी रहती है। नाटक का स्क्रिप्ट तैयार होने से लेकर उसके स्टेज होने तक एक ओर ये काम की जिम्मेदारी सम्हालती है पूरी तो दूसरी ओर लगातार अपनी टिप्पणियो से मुझे रुकने और सोचने को मजबूर करती रहती है। किसी भी नाटक की जब रीडिंग शुरू होती है तो ये अमूमन कुछ दिन बैठती है और स्क्रिप्ट मे जहाँ इन्हे खामिया लगती है, बताती चलती है। कुछ बाते तो मै उसी समय मान लेता हूँ कुछ बाद मे सोचने-विचारने के बाद। सब एक साथ कैसे मान लू, ईगो को मजूर नही होता न। कुछ नही भी मानता। इतना ही नही ये ग्रूपिग वगैरह मे भी बराबर सहायता करती है—इसे जरा दाये कर दो, उसे थोडा उस ओर। कई बार मुझे ताज्जुब होता कि इनमे इतना अच्छा ग्रूपिग का सेस कैसे है? एक और बात है। कोई कितनी भी तारीफ करे, इन्हे यदि कोई चीज ठीक नही लगती तो ये उस भूल की ओर उगली जरूर उठाती है, आम जनता की तारीफ मे भूल नही जाती। अभी पिछले दिनो की बात है। मै नये नाटक की

री स्ट्रक्चरिंग कर रहा था। इन्होने साफ कहा कि तुम्हारे नाटक का थीम साफ नही है, तुम जो कहना चाह रहे हो वह नाटक से साफ उभरकर नही आ रहा है। यह जा रहा है किसी तरफ और तुम ले जाने की कोशिश कर रहे हो किसी और तरफ। मै रुका, मैने सोचा और मुझे लगा कि शायद इनकी बात ठीक है।"

अत्यत आतरिक और सहज भाव से कही गयी हबीब तनवीर की ये बाते एक ओर जहाँ मोनिका जी की गहरी सूझबूझ और सक्रिय योगदान का इगित देती है वही एक सुखी-सतुष्ट पारिवारिक जीवन का। इस प्रश्न के उत्तर मे कि बाबा तुम्हे कितने अच्छे लगते है, बेटी नगीन का यह उत्तर कि 'खाने मे नमक जितना' मुझे गहरे छू गया। मै कुछ पल के लिए स्तब्ध हो गयी नगीन की उक्ति की गहरायी पर, सहजता पर, उसके कवित्व पर। नमक न केवल खाने को स्वादिष्ट बनाता है वरन वह शरीर के लिए आवश्यक है, शरीर के हर तत्व—आसू, खून, पसीना, प्रस्राव—मे वह रहता है, उसके बिना जीवन चल नही सकता। मोनिका जी के प्रति हबीब के उद्गार, हबीब के प्रति नगीन के उद्गार और नगीन के स्वच्छद विकास के लिए तनवीर दम्पति की तत्परता ने मेरी आखो के सामने एक सतुलित, विवेकपूर्ण सुखी परिवार को मूर्त रूप मे खडा कर दिया। रुकिए, नगीन की बात करने से पहले मोनिका जी की बाते हम पूरी कर ले।

मोनिका मिश्र का जन्म सन् 1930 मे शिमला मे हुआ। पिता सरकारी नौकरी मे थे और उन दिनो गर्मियो मे छ महीने भारत सरकार का कार्यालय शिमला मे स्थानातरित हो जाया करता था। उसी दौरान इनका जन्म हुआ। बगाली मा-बाप की सतान होते हुए भी शिमला और दिल्ली मे रहने के कारण मोनिका बहुत साफ हिन्दी बोलती है फिर भी उन्हे पूरा आत्मविश्वास नही, डर रहता है कोई शब्द गलत न निकल जाये। स्कूल की पढाई पूरी करके लाहौर के कनेट कालेज मे पढने गयी। वहा की पढाई पूरी करके शिमला लौटी तो विदेश जाने के लिए स्कालरशिप मिल गया। स्कालरशिप मिला तो था पढाई के लिए लेकिन ऐन मौके पर मन बदल गया और पढाई के बदले थियेटर का कोर्स करने का तै कर लिया क्योकि कोलोरैडो जहाँ ये जा रही थी वहाँ का ड्रामा विभाग प्रसिद्ध था। सो इन्होने बिना हिचक ड्रामा विभाग मे दाखिला ले लिया और दो साल प्रोडक्शन की ट्रेनिंग

ली। प्रोडक्शन अर्थात् सब कुछ की ट्रेनिग—निर्देशन, सेट, लाइट, म्यूजिक, कास्ट्यूम। ट्रेनिग पूरी हुई। एक बार वही रह जाने की सोचा पर इनके प्रोफेसर ने समझाया कि यहाँ रहकर क्या करोगी, स्वदेश लौट जाओ। उनकी बात मान मोनिकाजी भारत लौट आयी। कुछ दिनो बम्बई मे अलकाजी साहब द्वारा खोली गयी अकादमी का काम सम्हाला फिर चली आयी दिल्ली हिन्दुस्तानी थियेटर मे। बेगम जैदी ने हबीब के लिए सब कुछ तैयार कर रखा था पर वे योरोप मे भटक रहे थे, लौटन का नाम ही नही ले रहे थे। बेगम जैदी और इतजार नही करना चाहती थी। उन्हे मोनिका जी के बारे मे पता चला तो उन्हे बम्बई से दिल्ली बुला लिया। मोनिका जी भी आ गयी। वे बम्बई मे बहुत खुश नही थी क्योकि अलकाजी साहब के यहा सब काम अग्रेजी मे होता था। अग्रेजी के कारण ही तो अमेरिका छोडा, दिल्ली से बम्बई आयी पर यहा भी वही तो निराशा हुई। वैसे बम्बई प्रवास के दौरान उन्होने शातिवर्धन के लिटिल बैले ट्रूप मे जगदीश चद्र माथुर का नाटक कोणार्क किया। खुले मे। एक पेड था, उसके इर्द-गिर्द चबूतरा सा बना था। उसे ही मदिर का रूप दे दिया।

दिल्ली आकर मोनिका जी ने शकुतला किया। बडी मेहनत से तैयारी करवायी। उस समय के दिल्ली के नौजवान कलाकार जो बाद मे बडे ऐक्टर-डाइरेक्टर हुए, सभी शरीक हुए थे। सभी नौजवान थे अत सबने पूरी मेहनत की। इसके बाद उठाया चार्लीज आट। सब तैयारी हो गयी पर जब हुआ तो निर्देशक मे नाम किसी और का दे दिया। मोनिकाजी के अनुसार—'मुझे नौकरी से निकालना था इसलिए ऐसा किया गया क्योकि तब तक हबीब लौटकर आ गये थे और बेगम जैदी उन्हे नियुक्त करना चाहती थी। मुझे बडा गुस्सा आया कि यह खूब रही। मैने सोचा—देखू तो यह शख्स है कौन जिसने मेरी नौकरी छीनी है। तब तक मैने गैरेज मे एक छोटा सा थियेटर खाल लिया था। वैसे हबीब को इस सब के बारे मे कोई जानकारी नही थी सो वे आराम से अपने काम मे लग गये और मै कुढती रही। मै सबके पास गयी, निर्मला जोशी के पास गयी कि मुझे कुछ काम दीजिए, मेरी मदद कीजिए पर किसी ने कुछ नही किया। खैर, यह करते-करते आठ-दस महीने निकल गये। हबीब ने 'मिट्टी की गाडी' किया पर उसके बाद बेगम जैदी से मनमुटाव हो गया, इन्होने हिन्दुस्तानी थियेटर छोड दिया और आ गये मेरे गैरेज थियेटर मे। हमलोगो ने वहा छोटे-छोटे नाटक किये सात पैसे,

जालीदार पर्दे, फासी । फिर गुड वोमन आफ सेतजुआ किया । पहले मै निर्देशन करती थी पर हबीब के आ जाने के बाद मैने अपने आपको उससे खीच लिया । मैने अनुभव किया कि हबीब मुझसे स्मार्ट है, ज्यादा अच्छी तरह सब कुछ कर-करवा सकते है । फिर दोनो के बराबर से रहने पर क्लैश होता ही होता सो मै बैकग्राउड मे चली गयी । वही से जब जो जरूरत होती है, करती रहती हूँ । अरे, यह बनाना तो भूल ही गयी कि इस बीच सन् 1962 मे हमने शादी कर ली पछोडी मे । सन् 1964 मे जन्म हुआ नगीन का । घर-गृहस्थी, बच्ची और फिर इनके कलाकारो की देख-रेख, उनकी हारी-बीमारी सब हमलोगो के जिम्मे रहती है । सब यही रहते है तो काफी समय उनके सुख-दुख को बाटने मे लग जाता है । वैसे इनके नाटक के साथ पूरी तरह जुडी रहती हूँ । रीडिग से लेकर शो तक । ड्रेस तो करती ही हूँ । नया थियेटर के बाहर नही के समान कुछ किया ।"

इस प्रश्न के उत्तर मे कि आपने अभिनय किन-किन नाटको मे किया मोनिकाजी बोली—"बहुत कम । हबीब ने कभी महत्वपूर्ण कुछ करवाया ही नही । हा, जब-जब तवायफ का रोल करना हुआ तो मुझे आगे कर दिया । कहते—अब इस तरह के रोल के लिए किससे कहूँ, तुम्ही कर लो न । और मै कर लेती थी । असल मे हमेशा से यही बडा मकसद रहा कि थियेटर हो इसलिए जब जो सामने आया कर दिया, कभी अच्छा बुरा सोचा ही नही । जो कुछ है, हम दोनो का है, उसे निभाना ही है । कभी-कभी झगडा होता है, गुस्सा आता है तो मैं छोडकर जाने की बात करती हूँ । फिर सोचती हूँ साथ ले क्या जाऊगी ? जो कुछ है, अलग से अपना तो कुछ कभी रहा नही ।"

इतनी देर से हबीब चुप बैठे बाते सुन रहे थे । अब उनसे नही रहा गया । बोले—"ये बहुत अच्छी अभिनेत्री है पर इन्हे हर वक्त अपनी हिन्दी से डर लगता रहता है इसलिए करती नही । इनका एक और पक्ष है जिसका जिक्र करना ये भूल गयी । सबसे पहले इन्हे कमला देवी चट्टोपाध्याय दिल्ली नाट्य सघ मे ले गयी । वहा ये पूरी क्लास लेती थी । फिर माया राव थी यहा । उन्होने एक इस्टीच्यूट आफ कोरियोग्राफी कर रखा था । उसमे ये ऐक्टर्स को माइम और इम्प्रोवाइजेशन सिखलाती थी । कोई कहानी दे दी, अब सब उसे अपने ढग से प्रस्तुत करते थे । यह सब अमेरीकी ट्रेनिंग का

फल था। बडी दिलचस्प चीजे करवाती थी। मै इनसे बराबर सलाह-मशविरा किया करता हूँ। जब भी कुछ इम्प्रोवाइज करना चाहता हूँ और रास्ता नही सूझता तो इनसे राय करता हूँ और ये बडा माकूल हल ढूढ निकालती है।"

अब मोनिकाजी से चुप नही रहा गया। बोली—"सच पूछिए तो जो मै वहा सीख कर आयी उसका पूरा लाभ हमारे थियेटर को नही मिला। यहा वह सुविधा ही नही है, साधन ही नही है। हमारे यहा दल के ऐक्टरो की अलग से तो ट्रेनिग होती नही, नाटक के लिए जितना जरूरी है उतना सीख लेते है। हबीब अपने नाटको मे रिहर्सल के दौरान बहुत बार इम्प्रोवाइजेशन करवाते है बाकी का यह सब तो वर्कशाप तक सीमित रहता है। हमारा थियेटर तो इतना साधारण हो गया है—जो कि होना चाहिए—कि विशेष कुछ चाहता नही।"

कहना कठिन है कि मोनिका जी सचमुच भाषा के कारण हिचकिचाती है या क्लेश बचाने के लिए वे निर्देशन-अभिनय से अपने आपको दूर रखती है। बहरहाल यह सही है कि उन्होने अपने आपको हबीब साहब और नया थियेटर की अभिभाविका बना लिया है और उसमे वे पूरी तरह रमी हुई है। बेरसराय के छोटे-छोटे तीन-चार फ्लैट आसपास है जिनमे तनवीर का परिवार और नया थियेटर के कलाकार रहते है। अत्यत साधारण परिवेश पर अतरगता से भरपूर, अपनी धरती की खुशबू से गमगम करता हुआ और नृत्य, सगीत तथा नाट्य कलाओ के अभ्यास से जीवन्त।



और इस परिवेश को सहज सुखमय बनानेवाली बेटी नगीन। सन् 1964 मे जन्म हुआ और उसने जबसे होश सम्हाला तबसे अपने को रिहर्सल रूम या ग्रीनरूम मे पाया। बडे सहज भाव से बचपन की बाते करती नगीन जैसे उन दिनो को फिर से जीने लगी—"बचपन मे अम्मा-बाबा के साथ रिहर्सल मे जाया करती थी। मुझे नीद आने लगती तो अम्मा वही सुला देती और लौटते समय साथ लाती। बचपन की दो औरतो की मुझे बहुत साफ याद है—फुलू और जानकी। इन लोगो को बाबा 'गाँव का नाम ससुराल' के समय लाये थे गाव से। और भी कई औरतें थीं मोहनी, दसरी, सुशीला। पर मुझे फुलू और जानकी बहुत अच्छी लगती थी और वे दोनो भी मुझे बहुत प्यार करती थी। ये अभिनय तो नही करती थी पर नाचती-गाती खूब थी—सूआ नाच और सूआ गीत, करमा, दधैंया, गौरा-गौरी की पूजा के गीत, दुर्गा देवी के गीत। मुझे बहुत अच्छे लगते थे। उनके साथ-साथ गाकर ही तो मैने सीखे ये गीत।"

मै मन्त्रमुग्ध सी सुन रही थी नगीन की बातें जो बच्चो जैसे निर्मल भाव से कही जा रही थी। एक और बात लगी कि यह लडकी अपनी धरती से बहुत गहरायी से जुडी है—अपने माता-पिता से अधिक। मा तो उस जमाने के सरकारी अफसर की सतान, दो साल अमेरिका रहकर आयी हुई—उनमे एक तरह का आभिजात्य है। हबीब साहब छत्तीसगढ प्रदेश के जरूर है पर होश सम्हालने के बाद से नागपुर, बम्बई, दिल्ली, इग्लैड-योरोप और दिल्ली मे रहे। उनमे आभिजात्य थोडा कम हो सकता है क्योकि बडे शहरो मे रहते हुए भी उनका काफी समय छत्तीसगढ या उसके लोगो के साथ गुज़रता है पर यह लडकी तो पूरी तरह फुलू और जानकी के रग मे रगी थी। इसका उठना-बैठना, बोलना-चालना, भाषा सबसे छत्तीसगढ की खुशबू आ रही थी। विशुद्ध छत्तीसगढी उच्चारण के साथ उसने चार-पाच देवी के गीत के कुछ-कुछ अश गाकर सुनाए। साथ-साथ पक्तियो का अर्थ भी बताती गयी—किसी शुभ अवसर पर शुरू मे इसी तरह मगलकामना के निमित्त देवी के गीत गाये जाते है। इसने गाने सीधे छत्तीसगढ वालो से सीखे, वे नाच का अभ्यास भी इससे करवाया करते थे। नगीन बोली—'मुझे तो उनलोगो का खाना भी बहुत पसद था। मै तो अक्सर उनके साथ खाया करती थी। एक बार अम्मा ने मुझे धोखा देना चाहा। वे लोग तामचीनी के बर्तन मे खाया करते थे। एक दिन मै स्कूल से आयी तो अम्मा ने मुझसे कहा—तेरे

लिए सब्जी आयी है, खा ले। मै तो मुह मे कौर डालते ही समझ गयी कि घर की सब्जी तामचीन के बर्तन मे डालकर अम्मा मुझे बुद्धू बनाना चाह रही है। इसमे वह स्वाद ही नही।"

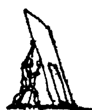
नगीन को गाने मे बहुत रुचि है पर अभिनय मे नही। छोटी उम्र मे ही एक ओर लोक कलाकारो से लोकगीत सीखे और दूसरी ओर बाकायदा शास्त्रीय सगीत की तालीम ली। बडौदा जाकर सगीत मे बी० ए० किया और अब एम० म्यूज० कर रही है। साथ ही सुलोचना यजुर्वेदी से शास्त्रीय सगीत की तालीम ले रही है। पर अभिनय ? उससे वह बहुत घबडाती है। नाचना-गाना तो फिर भी कर ले पर अभिनय से वह कोसो दूर रहना चाहती है। कहती है—डायलाग बोलने मे मुझे बहुत हिचकिचाहट होती है, सकोच होता है। मच पर उतरी है कई बार पर या तो जब छोटी थी तब या फिर मजबूरी मे। सबसे पहले किया टेमिग आफ दी श्रू मे—उम्र रही होगी दो-तीन साल। याद भी नही। आगरा बाजार मे बदर की भूमिका की। थोडी बडी होने पर नवाब की नवासी का रोल किया। उसके बाद किया शाजापुर की शातिबाई मे सन् 1978 मे। शाजापुर की बात आते ही बोली —"मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, बाबा ने बहुत डाटा था कि मुझे गाना क्यो नही याद हो रहा, इसको मीटर मे लाओ। मैं मीटर नही पकड पा रही थी, एक घट तक डाट पडी थी।" 'कुश्तिया का चपरासी' मे भी एक गरीब भूखी लडकी का रोल किया पर उसका रुझान सगीत की ओर था। वह बोली— "आदमी को वही काम करना चाहिए जो वह अच्छी तरह कर सके। मैं जानती थी कि मैं कभी डायलाग अच्छी तरह नही बोल सकूगी। इसलिए कभी ऐक्टिग करने का मन नही हुआ पर सगीत मे लगता था और अभी भी लगता है कि मै कुछ कर सकती हूँ तो करने का मन करता है। अम्मा-बाबा मुझे बराबर सगीत की सभाओ मे ले जाया करते थे। मुझे बेगम अख्तर की बहुत अच्छी तरह याद है—गालिब आडिटोरियम मे प्रोग्राम था, हम सब गये थे। बेगम अख्तर खुद हारमोनियम बजाकर गाती थी, बगल मे पानदान। पानदान से पान निकालकर खाती और गाना गाती। कुमार गधर्व को सुना था, सगीत के आगे मेरे लिए और सब कुछ गौण है।" नगीन ने यह भी बतलाया कि कैसे देवीलाल हारमोनियम और अमरदास या गोविन्द तबला बजाते थे और वह नाच का अभ्यास करती थी।

और स्मृति। जबरदस्त। कौन सा नाटक किस सन् या किस महीने मे हुआ, इतना ही नही वह आपको सही तारीख भी बतलाती जायेगी। नाटक का नाम आया—नगीन किस सन् मे हुआ यह ? नगीन का सटीक उत्तर हाजिर। इस बातचीत के दौरान हमलोगो ने उसका नाम कम्प्यूटर रख दिया था—आगे-पीछे की घटना, कलाकारो के नाम सब उसकी स्मृति मे सुरक्षित है।

हबीब तनवीर को जीवन मे मान-सम्मान प्रर्याप्त मिले। अकादमी अवार्ड और राज्यसभा की सदस्यता की बात पहले को जा चुकी है। सन् 1982 मे उन्हे पद्मश्री से विभूषित किया गया। इसी साल उन्हे चरनदास चोर के लिए एडिनबरा इटरनेशनल ड्रामा फेस्टिवल मे फ्रिज फर्स्ट अवार्ड मिला। सन् 1983 मे इदिरा कला विश्वविद्यालय, खैरागढ द्वारा डी०लिट्० की उपाधि, सन् 1984 मे मध्यप्रदेश सरकार द्वारा शिखर सम्मान की प्राप्ति, 1985 मे नादीकार कलकत्ता तथा उर्दू अकादमी के अवार्ड, सन् 1990 मे मध्यप्रदेश द्वारा प्रदत्त कालिदास सम्मान एव साहित्य कला परिषद् दिल्ली द्वारा प्रदत्त निर्देशन का पुरस्कार उनके काम के महत्व का स्वीकार है। सन् 1982-84 के बीच उन्होने नेहरु फेलोशिप के अतर्गत बस्ती और छत्तीसगढ के आदिवासियो के सामूहिक एव व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन किया। सन् 1969 मे ऑर्गनाइजेशन आफ अडरस्टैडिग एड फ्रटरनिटी द्वारा नया थियेटर को प्राप्त बलराज साहनी हारमनी अवार्ड भी वास्तव मे हबीब तनवीर का ही प्राप्य था।

व्यक्ति हबीब तनवीर के व्यक्तित्व और कृतित्व का सन् 1990 तक का लेखा-जोखा यही समाप्त होता है। यह लेखा-जोखा स्वय उनके द्वारा कही या लिखी गयी बातो और उनके या उनकी प्रस्तुतियो के सम्बन्ध मे दूसरो द्वारा कही गयी बातो पर आधारित है, मेरी बाते तो है ही। समग्र रूप मे देखने पर हम पाते है कि हबीब तनवीर ने अपने नाट्यजीवन का प्रारभ राजनीतिक

प्रतिबद्धता के साथ किया था जो कालातर मे विस्तार पाकर सहज मानवीय प्रतिबद्धता के रूप मे स्थित हो गया। हबीब ने अपना सारा जीवन आम आदमियो के साथ, उनके जीवन, उनकी समस्याओ का सहभागी बनते हुए गुजारा, अभी भी गुज़ार रहे है। उन्होने कभी अपने लिए अतिरिक्त सुविधा नही चाही। आज भी डी० डी० ए० के बहुत साधारण क्वार्टर मे रहते है वैसे ही जैसे नया थियेटर के और कलाकार रहते है। अपने देश के सभी मान-सम्मान उन्हे मिले, विदेशो के भी मिले जिन्हे हबीब तनवीर ने अत्यत सहज रूप मे स्वीकार किया, उनके कारण न उन्होने घमड का अनुभव किया न ही किसी तरह उनसे उनका रहन-सहन प्रभावित हुआ। हबीब ने वास्तव मे एक कवि-हृदय पाया है जो सवेदनशील है दूसरो के प्रति सदय है, जो समानता के सिद्धात मे केवल विश्वास ही नही करता वरन् व्यवहार मे उन पर अमल भी करता है। स्वभाव से बहुत व्यवस्थित नही है फिर काम का दबाव हर समय रहता है इसलिए बहुत बार लोगो को शिकायत रहती है कि उन्होने यह नही किया या उन्हे यह और करना चाहिए था पर दूसरो की अपेक्षाओ का तो अत नही खासकर उनसे जो समर्थ होते है। हम चाहते है कि हमे उनसे और बहुत कुछ मिले, सदा मिलता रहे। 1 सितम्बर सन् 1993 को वे सत्तर वर्ष के पूरे हुए, अभी भी सक्रिय है, पिछले दिनो ही अपने मौलिक नाटक 'देख रहे है नयन' का मचन किया है। सभा-समितियो-गोष्ठियो मे बराबर भाग लेते रहते है, देश-विदेश का भ्रमण करते रहते है। कवि नाट्यकार-निर्देशक-अभिनेता हबीब तनवीर ने भारतीय रगमच को जिस रूप मे समृद्ध किया, वह विशेष उल्लेखनीय है। पश्चिम से आयातित आधुनिक भारतीय रगमच को उन्होने भारतीय परम्परा और भारतीय जनजीवन से जोडने का अत्यत महत्वपूर्ण कार्य बडी सहृदयता, दक्षता और सूझबूझ के साथ किया। अपने इस अवदान के लिए वे सदा सादर स्मरण किये जायेंगे।



परिशिष्ट

हबीब तनवीर

की

रचनाएँ

साक्षात्कार

हिन्दी 117

अंग्रेजी 153

जीवन-विवरणिका 227

अनुक्रम पृष्ठ

दृश्यांकन की समस्या 117

पारसी थियेटर के नाटक : आज के वातावरण मे 123

विभु कुमार द्वारा साक्षात्कार 131

गीत, नज्में व गजल 145

दृश्यांकन की समस्या

रगमच का दृश्याकन विशेज्ञता की कला है। हमारे देश मे जहॉ रगमच का पूरा विकास अभी नही हुआ है, दृश्याकनकार भी पूरी तरह सामने नही आ सका है। दृश्याकन किसी कमरे को सजाने का नाम नही है, जैसा हमारे शौकिया रगमच मे प्राय: लगता है। न ही वह चित्रकला का दूसरा नाम है। 1957 मे कैकाव (पोलैंड) मे मैने आनुई के नाटक 'एटिगनी' के रगमच पर पोलिश दृश्याकनकार द्वारा, जो एक विख्यात चित्रकार भी था, बडे-बडे अमूर्त्त चित्र देखे। चित्रो के रूप मे वे, निश्चय ही बडे दिलचस्प थे, पर शायद कुछ आवश्यकता से अधिक दिलचस्प थे क्योकि वे निरतर ध्यान अपनी ओर खीचते थे और इस प्रकार नाटक के प्रभाव को नष्ट करते थे।

फिर भी दृश्याकन चित्रकला और वास्तुकला दोनो से ही जुडा हुआ है। साथ ही उसके लिए रगमच और नाटक का ज्ञान भी जरूरी है। वास्तव मे दृश्याकन का रूप नाटक की बुनियादी जरूरतो से निर्धारित होना चाहिए। दृश्याकन के लिए निस्सदेह अच्छे चित्रकार की आवश्यकता होती है। पर आम तौर पर चित्रकार अपनी कला को प्रधानता देकर नाटक को उसके अधीन बना देते है। यह स्थिति हर जगह ही है। हमारे देश मे विशेष रूप से है क्योकि यहॉ दृश्याकनकार का कोई यथार्थ अस्तित्व ही अभी नही है। इस

लिए यहाँ यह जरूरत है कि पहले खुद निर्देशक ही अपने दृश्यबध की परिकल्पना करे। कम से कम उसे अपने दृश्याकनकार को हमेशा नियत्रण मे रखकर उसका दिशादर्शन करना चाहिए। मेरा अनुभव है कि दृश्याकनकार प्राय निर्देशक के विचारो का स्वागत नही करता। पर तीन-चार नाटको मे मेरे साथ काम कर लेने के बाद यह सभव हो सका है कि दृश्याकनकार के विचारो से मुझे प्रेरणा मिली और मेरे विचार दृश्याकनकार की प्रेरणा के अनुरूप सिद्ध हुए।

1958 मे जब मैने 'मिट्टी की गाडी' प्रस्तुत किया तो प्रारभ मे मेरा दृश्याकनकार मुझसे बडा असतुष्ट था क्योकि मै इस नाटक के लिए मच के बीचोबीच एक इच ऊचे गोल चबूतरे और तटस्थ रग के एक 'सराउड' के अतिरिक्त, जिससे अभिनेताओ को सात प्रवेश मिल सके, और कुछ नही चाहता था। दृश्याकनकार की धारणा थी कि इस नाटक का दृश्याकन और भी कई तरह से अच्छा हो सकता है। इसके विपरीत मेरी धारणा थी कि इस नाटक के लिए अधिक से अधिक खाली, खुला और बिना सजावट का मच ही सबसे उपयुक्त होगा। इससे भिन्न किसी भी प्रकार का दृश्याकन नाटक की शैली, उसके गतिविधान के स्वरूप मे बाधा डालेगा। इसके बाद दृश्याकनकार ने कहा कि 'सराउड' के गोल चबूतरे को ही शायद अधिक सजावटपूर्ण किया जा सकता है। मुझे इसमे भी सदेह था। नाटक अपने आप मे ही बहुत अलकारपूर्ण तथा उसकी वेशभूषा बहुत ही रगीन है। ये चीजे अधिक से अधिक सादी पृष्ठभूमि मे ही ठीक से उभर सकती थी। और सबसे बडी बात तो यह थी कि केवल ऐसे सादे दृश्यबध मे ही नाटक के सवाद और उनकी सुदर बिब-योजनाएँ पूरी अभिव्यक्ति पा सकती थी। दृश्यबध मे सजावट बढाना अत्यत मीठे शहद मे चीनी मिलाने-जैसा होता।

किंतु जब 1960 मे मैंने आगा हश्र का 'रुस्तम सोहराब' प्रस्तुत किया तो दृश्याकनकार और मेरे बीच विचारो मे अधिक सगति थी। यह दृश्याकनकार मेरे साथ पहले कोई चार नाटको मे काम कर चुका था, इसलिए वह मेरी बात समझता था। मैने उससे कहा कि इस नाटक के लिए एक साथ ही तीन तत्वो को उभारना आवश्यक है. एक तो पारसी रगमच की कुछ झलक, जिसके लिए रगमच के बीचोबीच कुछ कोनेदार चबूतरे के ऊपर रगे हुए परदे गिराए जा सकते थे, जिससे मचक्षेत्र अलग-अलग निर्धारित हो सके और दृश्यो के परिवर्तन मे आसानी हो; दूसरे, रगे हुए पर्दो, वस्त्रो और

अन्य मचीय उपकरणो मे पुराने ईरानी अभिप्राय (motif) डालकर प्राचीन ईरान की झलक , और तीसरे, चित्रो, रगो, शैली और आकृतियो मे आधुनिक प्रभाव । मेरे इन विचारो ने दृश्याकनकार विद्यासागर को बडी प्रेरणा दी और उसने इस काम को पूरा भी बहुत योग्यता से किया । उसने कीमती तेल-रगो का उपयोग किया , हरे, भूरे, नीले और बैगनी रगो को सुनहली, रुपहली और सफेद रेखाओ से अकित किया , वेशभूषा के लिए टाट को रगकर इस्तेमाल किया और तलवारो, ढालो, सिहासनो और परदो को भी रगा । और इस सब मे—वेशभूषा, दृश्यबध और उपकरणो मे—कुल मिलाकर आठ सौ रुपये से अधिक नही लगे । वास्तव मे रगमच के दृश्याकन मे किफायत और व्यापक सुनियोजन बहुत ही आवश्यक है, खासकर भारत के रगमच की परिस्थितियो मे तो यह सर्वथा अनिवार्य है ।

'रुस्तम सोहराब' मे चबूतरे के अलग-अलग हिस्से इस तरह बनाए गए थे कि उनका उपयोग मोलियर के बुर्जुआ जेटलमेन के उर्दू रूपातर मिर्जा शोहरत के लिए भी एक अलग ही प्रकार और आकृति के चबूतरे के रूप मे हो सके । यह नाटक भी मै उन्ही दिनो कर रहा था । इस रूपातर की पृष्ठभूमि हैदराबाद थी । इसलिए इसमे उस चबूतरे के पीछे हैदराबादी शैली की मेहराब भी खडी कर दी गई थी और उस अकेले दृश्यबध से नाटक के सारे दृश्यो का काम चल गया था ।

एक अर्थ मे रंगमच के दृश्याकनकार का काम चित्रकार अथवा वास्तुकार से कही अधिक जटिल है । नाटक मे मचीय भ्रम उत्पन्न करने के लिए प्रकाश-व्यवस्था, दृश्य-रेखा और सामग्री की बनावट और भार इत्यादि से सबधित व्यावहारिक बातो पर ध्यान रखना इतना आवश्यक हो जाता है कि रगमच का दृश्याकन अन्य कलाओ से बिलकुल भिन्न हो जाता है ।

उदाहरण के लिए, यदि रगमच पर कोई ड्राइग रूम प्रस्तुत करना है तो इस बात से विशेष तकनीकी और सौदर्य सबधी समस्याएँ उत्पन्न होती है कि चौथी दीवार अदृश्य ही रहती है । यथार्थवादी दृश्यबध मे भी कमरे का तीनो दीवारो के कोण अथवा अनुपात पूरी तरह यथार्थवादी नही रह सकते, क्योकि यह आवश्यक है कि वे दिखाई पडे और देखने मे अच्छे भी लगे । साथ ही दृश्याकनकार को वास्तुकला का इतना पर्याप्त ज्ञान तो होना ही चाहिए कि वह समस्त अदृश्य इमारत का और कभी-कभी उसके पास-पडोस को भी यथार्थ रूप मे अपनी आँखो के आगे मूर्त कर सके । इसके बिना ड्राइग रूम का सबसे उपयुक्त अश रगमच पर प्रस्तुत करना और उसके अनुपात को

रंगमच की आवश्यकताओ के अनुसार बदल सकना ठीक से सभव नही हो सकेगा ।

इसके अतिरिक्त दृश्याकनकार की सामग्री भी चित्रकार और वास्तुकार से बहुत भिन्न होती है । रगमच पर उपयोग मे आने वाली सामग्री हलकी, लाने-लेजाने के लिए सुविधाजनक, और इस तरह की होनी चाहिए कि उसकी सतह प्रकाश को सोख सके । इसीलिए दृश्याकनकार को निरतर नई-नई सामग्री के साथ प्रयोग करते रहना पडता है । अन्य देशो मे रगमच के लिए उपयोगी नई-नई सामग्री का निरतर आविष्कार होता रहा है और विशेषज्ञ उन्हे तैयार करके बेचते भी है । इसलिए उन देशो मे इन सबके लिए बहुत-से रगमचीय व्यवसाय बन गए है । इस कारण ही जिन देशो मे व्यवसायी रग-मच बहुत विकसित हो चुका है, वहाँ निर्देशक और दृश्याकनकार को दृश्यबध के लिए उपयोगी सामग्री से सबधित बहुत-से अनावश्यक प्रयोगो की जरूरत नही पडती । पर हमारे देश मे तो इन समस्याओ के लिए अधिकतम कल्प-नाशीलता और प्रयोगशीलता की जरूरत होती है ।

1957 मे मेरे नाटक 'सात पैसे' मे विद्यासागर ने एक किनारे पर बल्ली और दूसरे किनारे पर लकडी के बक्सो से बनी हुई आलमारी के साथ एक रस्सी बाँधकर एक बडा दिलचस्प प्रभाव उत्पन्न किया । पीछे रगशीर्ष मे उसने बाँस का एक दरवाजा बनाया और इधर-उधर गहरे जलीय रगो से रगकर टाट लटका दिया । इस दृश्यबध से आवश्यक वातावरण उत्पन्न हो गया था और इसकी कीमत कुल बारह रुपए थी । 1962 मे पचमढी मे विश्व-विद्यालयो के प्रशिक्षार्थियो के एक प्रशिक्षण शिविर मे मैंने ब्रेश्ट का 'सेत्जुआन की भली स्त्री' नामक नाटक प्रस्तुत किया । उसके दृश्यबध मे कुल ढाई सौ रुपए खर्च पडे थे । कई धरातलो के इस व्यजनापूर्ण यथार्थवादी दृश्यबध को बनाने मे अधिकाशत लकडी का प्रयोग किया गया था और उसके लिए स्थानीय स्कूलो की मेजें, तख्त और बेंचे भी काम मे लाई गई थी । इस सूझ-बूझ का सबसे दिलचस्प परिणाम यह हुआ था कि रगशाला के एक किनारे पर रगमच को बढाकर तीनो देवाताओ के लिए एक रास्ता तैयार किया गया था जो जापानी काबुकी रगमच-जैसा दिखाई पडता था ।

पचमढी शिविर मे 'सेत्जुआन की भली स्त्री' के दृश्यबध का रूप सबसे अत मे तै हुआ क्योकि बहुत दिनो तक यह न निश्चित हो सका था कि नाटक कहा खेला जाएगा । पर साधारणतः नाटक की प्रस्तुति मे दृश्यबध सबसे पहले तै करना चाहिए । उसी से प्रस्तुति की शैली और उसका गतिविधान तै होता

है, यद्यपि यह भी उतना ही सही है कि दृश्यबंध बहुत हद तक नाटक की शैली से निर्धारित होता है ।

पर नाटक की व्याख्या कई प्रकार से हो सकती है । मैने अपना नाटक 'जालीदार पर्दे' 1952 मे बबई मे यथार्थवादी दृश्यबघ पर कामदी के रूप मे किया था, पर उसी को 1959 मे दिल्ली और शिमला मे विशुद्ध प्रहसन के रूप मे खेला, जिसमे दरवाजे और खिडकी के एक-एक रीतिबद्ध चौखटे का प्रयोग किया । और यद्यपि प्रहसन के रूप मे नाटक अधिक खुला फिर भी बाद मे दृश्यबध मुझे कुछ अजीब लगता रहा । इसी प्रकार मेरे नाटक 'शतरज के मोहरे' मे, जो 1951, 1954 और 1960 मे बबई, हैदराबाद, अलीगढ और दिल्ली मे प्रस्तुत किया गया, मच-रूपरेखा अलग-अलग बनती रही है । शुरू मे उसे धरातलो के बिना प्रस्तुत किया गया था और हमने पहले अक मे मच को दो कमरो मे बॉट दिया था जिनमे व्यापार एक साथ ही चलता था । पर पाँच साल पहले दिल्ली मे धरातलो का उपयोग करने पर नाटक अधिक सफल हुआ । उन्ही धरातलो को अलग-अलग सजाने से दृश्यबध को जल्दी से तीन बार बदला जा सका जो हर बार नया दिखाई पडा । इस व्यवस्था मे पहले अक मे मच को बॉटे बिना ही व्यापार एक साथ और पूरी तरह दृष्टिगोचर हो सका । इस दृश्यबध पर हमारे दो सौ रुपए खर्च पडे थे ।

वास्तव मे हर नाटक मे एक ऐसा निहित तत्त्व होता है जिसे ध्यान मे रखकर ही दृश्यबध पर विचार करना चाहिए । जैसे इब्सन के नाटक अपने यथार्थवादी परिवेश से इतने जुडे होते है कि उसके बिना नाटक सजीव नही हो सकता । उदाहरण के लिए, प्रेत मे अग्निकाड का दृश्य स्थापित हुए बिना नाटक का पूरा प्रभाव नही प्रगट होगा । शॉ और चेखव भी इसी कोटि के नाटककार है ।

पर बर्तोल्ट ब्रेश्ट के नाटको के लिए दृश्यबध की समस्या कही अधिक जटिल है । एक ओर वह दैनदिन यथार्थ की दुनिया से भाव-निरपेक्षता स्थापित करने के लिए रूपवाद की मॉग करते है, और दूसरी ओर पात्रो के तात्कालिक भौतिक परिवेश की वास्तविकता प्रकट करने के लिए यथार्थवाद की । क्योकि इन नाटको का उद्देश्य दर्शको को किसी भावानुभूति मे डुबाना नही, बल्कि जीवन के रगमचीय रूप का विश्लेषण करके उससे निष्कर्ष निकालने के लिए प्रवृत्त करना है ।

शेक्सपियर अथवा मोलियर के नाटको मे दृश्य पात्रो के प्रवेश से शुरू होता है और उनके प्रस्थान के साथ समाप्त । इस प्रकार एक ही रगमचीय

क्षेत्र विभिन्न नाटकीय स्थलों को सूचित करता है। इस तरह के नाटको मे प्रत्येक दृश्य का विस्तृत रूपायन नाटक की आत्मा के विरुद्ध होगा। इसका एक और भी कारण है। इन नाटको मे परिवेश का बडा सजीव वर्णन रहता है, इसलिए उनका दृश्यरूप प्रस्तुत करने की आवश्यकता नही। ऐसे नाटको मे यथार्थवादी मचसज्जा करने से नाटक की गति मे पल-पल मे बाधा पडती है। शेक्सपियर के नाटको के लिए तो सबसे उपयोगी उपाय है धरातलो का उपयोग।

धरातल यूनानी नाटको के लिए भी बडे उपयोगी सिद्ध होते है, यद्यपि यूनानी नाटको मे कोई दृश्यबध नही होता था। यूनानी नाटक मे जीवन की त्रासदी तथा कामदी-मूलक अनुभूति को अभिव्यक्त किया गया है। इसलिए उसका भौतिक परिवेश समस्त जगत है। यूनानी नाटक की विषयवस्तु है मनुष्य और जगत। इसलिए अधिक सयम मे ही यूनानी नाटक के दृश्यबध की कुजी है। यही सिद्धात बहुत-से आधुनिक नाटको के लिए, विशेषकर सगतिहीन धारा के नाटको के लिए भी, सही है। ऐसे नाटको की विषयवस्तु भी रूपवादी ढग के कठोर दृश्यबध द्वारा ही ठीक से अभिव्यक्त हो सकती है।

सस्कृत नाटक मे देश-काल की परिकल्पना एकदम भिन्न प्रकार की है। उसमे ये दोनो ही नाटक के रस के अधीन है और मुख्य वस्तु भाव की अन्विति है। इस कारण, तथा और भी कई कारणो से, प्राचीन सस्कृत नाटको के लिए यथार्थवादी परिवेश की रचना अनावश्यक है। बल्कि सस्कृत नाटक मे इतने दृश्य और स्थल होते है कि उन सबको मूर्त रूप मे रगमच पर प्रस्तुत कर सकना लगभग असभव है। यह आवश्यक भी नही, क्योकि अनिवार्य रूप से नाटककार प्रत्येक दृश्य को अपने काव्य के जादू से मूर्त करता ही है। ये शब्दचित्र इतने विशद और प्रभावशाली होते है कि प्रत्येक दृश्य की रचना न केवल अनावश्यक है, बल्कि उस चित्र का भौतिक रूप प्रस्तुत करने का परिश्रम निरर्थक है। इसलिए सस्कृत नाटक का दृश्यबध सदा प्रतीकात्मक, सादा और बहु-प्रयोजनीय होना चाहिए।

(नटरग, अक 2)

पारसी थिएटर के नाटक : आज के वातावरण में

'दुनिया—मक्कारो अवलाफरेब दुनिया'—इन शब्दो से वह नाटक शुरू होता था। नाटक का नाम था गौहरेअफलास उर्फ पालिशवाला। यह 1935 या 1936 की बात है। नाटक हमारे फारसी शिक्षक ने लिखा था। लारी म्युनिसिपल हाई स्कूल रायपुर के सालाना जलसे का मौका था। मै उस नाटक का हीरो था और मेरे दोस्त अजीज हामिद मदनी मेरे उस सरक्षक का पार्ट कर रह थे जो मुझे अपने पैसे से शिक्षा के लिए विलायत भेजते है, अपनी लडकी से मेरी शादी कराते है, और मुझे एक बूट पालिश करनेवाले की आजाद जिन्दगी से बचाकर एक सूट-बूट पहननेवाला आई० सी० एस० अफसर बना देते है। मेरी उम्र उस वक्त कोई दस-बारह साल थी। बाद मे जब अपनी इस पहली कारगुजारी पर सोचने का मुझे मौका मिला तो मै इस नतीजे पर पहुचा कि हमारे फारसी शिक्षक के नाटक मे, हमारे ड्रिल मास्टर के निर्देशन मे, और हम सब के अभिनय मे, पारसी थिएटर का गहरा असर था।

हिन्दुस्तान के हर शहर मे बगाली ज़रूर मिलेगे और जिस शहर मे बगाली होते है वहा कालीबाडी जरूर होती है और दुर्गापूजा के जमाने मे कालीबाडी मे नाटक जरूर खेले जाते है। मध्य प्रदेश के इस शहर रायपुर की

कालीबाडी मे भी नाटक होते थे और साल मे सिर्फ एक बार नही, बल्कि अक्सर होते थे और सिर्फ बगला मे नही उर्दू मे भी। मेरे बडे भाई इस थिएटर मे अक्सर पार्ट करते थे और जनाना पार्ट करने मे माहिर थे। मैने उनके बहुत से नाटक देखे। लेकिन एक नाटक जिसके बहुत से दृश्य अब तक मेरे मन मे सरक्षित है, वह था हाफिज अब्दुल्ला का लिखा हुआ 'मुहब्बत का फूल'। इस नाटक के हीरो जॉबाज की मुसीबते मुझसे देखी नही जाती थी। खास तौर से वह दृश्य जहाँ वह कैद मे होता है और उसकी प्रेयसी उससे जेल मे मिलने जाती है, और बहुत रोती है। मै जानता था कि ये भाईजान है जो हिचकियाँ ले-लेकर औरतो की तरह रो रहे है, और इस अहसास से मेरे दिल पर इस दृश्य का ज्यादा असर होता था और खुद मेरी आखे डबडबा आती थी। मैं यह नाटक देखने अक्सर जाता और इस स्थल पर पहुचकर हमेशा रो देता। नबी दर्जी जो भाईजान के दोस्त थे और हमारे ही मुहल्ले मे रहते थे, मुझे देखकर हँस देते, और यह कहकर चिढाते, "क्यो बच्चू, भाईजान को 'मुहब्बत के फूल' मे देखकर कैसे रोते थे!" यह मजाक का सिलसिला जब तक नबी दर्जी जिन्दा थे जारी रहा। दस-पन्द्रह बरस का जमाना बीत जाने के बाद भी वह इस बात को याद करके खुश हो जाते थे। यानी साल-दो साल बाद जब भी मै वापिस घर जाता, नागपुर से, अलीगढ से, और बाद मे बम्बई से, और उस गली से गुजरता जहाँ नबी दर्जी की दुकान थी, तो वह मुझे जरूर अपनी दूकान पर बुलाते, चाय पिलाते और अपने दोस्तो के सामने उस बात को दोहराकर हँसी से लोट-पोट हो जाते।

भाईजान मर गये। नबी दर्जी मर गये। जो साहब जॉबाज का पार्ट किया करते थे वह भी मर गये। और रायपुर का वह बहुत लम्बे कद का बगाली अभिनेता, जो औरतो के पार्ट मे और भी ज्यादा लम्बा लगता था, वह अब न जाने कहाँ है। अगर जिन्दा होगा तो बूढा हो गया होगा और आज अगर वह मुझे कही मिल जाये, तो शायद मै उसे पहचान भी न सकूगा।

1960 मे जब मैने आगा हश्र के नाटक 'रुस्तम सोहराब' को आधुनिक ढग से दिल्ली के रगमच पर पेश करने की कोशिश की, तो वे तमाम व्यक्ति एक बार मेरे मन मे उसी शान के साथ जिन्दा हो गये। मुझे याद आया कि नाटक शुरू होने से पहले पुराने थिएटरो मे हमेशा बैंड बजा करता था ताकि लोग उसकी आवाज पर थिएटर की तरफ खिचकर आये, टिकट खरीदें, नाटक देखे। सगीत की गति पर जब परदा उठता तो उसमे एक जादू का असर

होता । सारे अभिनेता बडी सजधज के लिबास पहन मच पर जमे होते और वाद्यवृन्द के सगीत पर बडे ठाठ से कोरस प्रारम्भिक गीत गाता । वह लमहा आज तक नही भूलता कि जब पहली बार सामने का परदा हिलता और लिपटता हुआ ऊपर को उठता । पहले अभिनेताओ के पाँव और धड नजर आते और अत मे उनके सर और चेहरे ।

पारसी थिएटर की बहुत-सी चीजो को आज हम बुरा समझते है । जैसे, उसकी जरूरत से ज्यादा रूप-सज्जा, सस्ते रेशमी लिबास की तडक-भडक, रगी हुई सपाट सीन-सीनरी, नाटक मे जोडे हुए बेतुके मजाकिया टुकडे, अभिनय मे चीख-पुकार, रोना-धोना, कहानी मे अलौकिक घटनाएँ और सवाद, प्रदर्शन की भावुकता, नाटक की लम्बाई, वगैरह । लेकिन इसके बावजूद दो-एक बाते इस थिएटर मे थी जिनसे ईर्ष्या होती है । जैसे, सगीत का ठाठ, और परदो के उठने-गिरने मे शिल्प की कुशलता ।

'रुस्तम सोहराब' की प्रस्तुति मे मै उस थिएटर की कमियो को तो दोहराना नही चाहता था, लेकिन उस थिएटर को एक नयी रोशनी मे जरूर पेश करना चाहता था । इसलिए वेशभूषा वगैरह के सिलसिले मे तो हमने ऐतिहासिक खोज और पुरानी ईरानी तस्वीरो से फायदा उठाया और मामूली टाट को रगवाकर कपडे तैयार करवाये । घोडो और ऊँटो की जीन की चीजो और कबूतरो के पैजनो से जेवर बनवाये । मच पर अभिनेताओ की गतियो और समूहनो के सिलसिले मे आधुनिक रगमच के उसूलो से काम लिया । अभिनय और नाटक के अधिनिरूपण मे वही नयी पद्धतियाँ इस्तेमाल की । लेकिन दृश्यो के बदलने के सिलसिले मे दोनो तरीको, यानी कुछ पारसी थिएटर और कुछ आधुनिक रगमच के उसूलो से काम लिया । जैसे सगीत की गति पर परदा उठता और गिरता और अभिनेता दाखिल होता और बाहर जाता । मच के ऊपर एक चबूतरा बनाया था जिसकी शक्ल तिकोनी थी । उस पर परदे उसी तरह आते-जाते थे जिस तरह पारसी थिएटर के परदे, यानी नीचे से ऊपर को लिपटते हुए । अलबत्ता इन पर जो दृश्य बनाये गये थे, उनमे रगो का चुनाव और मेल और रेखाओ का सयोजन और निर्धारण—ये चीजें आधुनिक चित्रकला के आधार पर थी ।

पारसी थिएटर के जिन तत्वो का मैने जिक्र किया, उनके बाबत यह कहना गलत होगा कि ये पारसी थिएटर के अलावा और किसी थिएटर मे नही पाये जाते । खुद पारसी थिएटर विभिन्न और परस्पर विरोधी प्रभावो का नतीजा है । जैसे, रँगी हुई सीनरी और परदो की विशेष शैली और उपयोग

विक्टोरिया के जमाने के अँग्रेजी रगमच की देन है। नाटक के शुरू और आखीर मे शास्त्रीय मगीत की धुन पर कोरस के गाने सस्कृत रगमच से आये है। अतिनाटक के साथ प्रहसन का एक अलग कथानक चलाना लोकनाट्य का ढग है। इस तरह पारसी थिएटर मे सस्कृत नाटक, नौटकी, फ्रास का आपेरा और इगलैंड का पुराना रगमच—इस सबकी झलक पायी जाती है।

विभिन्न तत्वो का मेल किसी भी कला के पुनर्जागरण के लिए आवश्यक होता है। विभिन्न प्रभावो को ले लेने का यह सिलसिला हमारे रगमच मे यो तो उन्नीसवी सदी के आखीर से जारी है, यानी उस जमाने से जब कि माइकेल मधुसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्र, गिरीशचन्द्र घोष और बाद मे द्विजेन्द्र लाल राय तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे नाटक लिखने और खेलनेवाले रगमच मे तरह-तरह के प्रयोग कर रहे थे। ये प्रयोग अभी पूरी तरह पनपने भी नही पाये थे कि पारसी थियेटर ने अपना एक नया फार्मूला तैयार कर लिया, जो बाजार मे ऐसा सफल हुआ कि उसका असर बगाल के पेशेवर रगमच पर शायद आज तक बाकी है। कमाल यह कि पारसी थियेटर ने भी अपने नाटको मे उन्ही बातो को शामिल किया जिनके आधार पर बगाल के बौद्धिक नाटककार नये नाटक को रूप दे रहे थे।

हमेशा यही होता है कि युग की माग के कारण देखने मे एक तरह के काम बहुत-से लोग करते है। ऊपर से देखने पर इन कामो का भीतरी विरोध और अन्तर महसूस नही होता। लेकिन ध्यान दे तो इनकी समानता एकदम सतही होती है और अन्तर बहुत बुनियादी। पारसी थियेटर और प्रारम्भिक बगला रगमच मे विषयवस्तु की दृष्टि से तो जमीन-आसमान का फर्क था ही, रूप की दृष्टि से भी उनके बीच बडी खाई थी।

तत्व अक्सर वही होते है, लेकिन कला की दुनिया मे इन तत्वो के मेल से हजार तरह के रग पैदा किये जा सकते है। इस मेल से एक नया रग पैदा करना कलाकार का और इस नये रगमच को पहचानना निगाहवालो का काम होता है। मिसाल के तौर पर, पिछले दस-बारह साल के दिल्ली के रगमच पर गौर कीजिये। सगीत नाटक के नाम पर हजार तरह के नाटक आप देख चुके है। इन नाटको मे कौन-से प्रभाव सक्रिय रहे है? हमारे लोकनाट्य, सस्कृत रगमच, पारसी रगमच, पारसी थियेटर, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटक, ब्रेश्ट का रगमच और हमारी फिल्मे—इन सबमे आपको कुछ सामान्य तत्व दिखाई पडेगे। इसके बावजूद इनमे से हरेक की अपनी अलग परम्पराए है, और दिल्ली के सगीत नाटको मे इन परम्पराओ का मेल अलग-अलग मात्र

मे हुआ है। इनमे यह समझना चाहिए कि सर्जनात्मक कला का रूप कलाकार की अपनी सवेदनशीलता की देन होता है। वह उसकी जन्मजात क्षमता, उसकी स्वाभाविक दुर्बलताओ और उसके मन-मस्तिष्क के सस्कार पर निर्भर है।

पारसी थिएटर अपने विषय और रूप दोनो दृष्टियो से मनोरजन और पलायन का रगमच था, जब कि बगाल के प्रारम्भिक नाटककार दोनो ही दृष्टियो से एक विचारोत्तेजक रगमच की बुनियाद डालने मे लगे हुए थे यानी एक ऐसा थिएटर जो इर्द-गिर्द की सामाजिक जिन्दगी की सार्थक झलक दिखा सके।

अमानत और मदारीलाल से लेकर बेताब, एहसन, राधेश्याम, हाफिज़ अब्दुल्ला और आगा हश्र तक, पारसी थिएटर का कोई भी नाटककार मनोरजन की सतह से ऊपर न उठ सका। इस एक सच्चाई को समझ लेने के बाद, जो इस रगमच के करीब-करीब सभी नाटककारो पर लागू होती है उस फर्क पर भी गौर करना चाहिए जो एक तरह के दो कलाकारो की सर्जनशीलता मे पाया जाता है। जैसे, वह फर्क जिसके आधार पर हम अमानत की इन्दरसभा को एक अच्छी साहित्यिक रचना और मदारीलाल की इन्दरसभा को एक घटिया दर्जे का नाटक कहते है। इस दृष्टि से पारसी थिएटर ने आगा हश्र से बडा नाटककार पैदा नहीं किया। आगा हश्र ने बहुतेरे नाटक लिखे। उनमे से बहुत कम ऐसे होगे जिनको पूरी तरह बेकार माना जाए। अगर कोई नाटक खुद घटिया है तो उसमे मजाकिया टुकडे जरूर ऐसे मिल जायेगे जिनमे जीते जागते चरित्र और चटपटे सवाद बहुतायत से होगे। इन्ही मजाकिया टुकडो मे व्यग्य की मजेदार झलकिया भी मिलती है। लेकिन आगा हश्र के ऐसे नाटको पर विचार किया जाये तो उनके सबसे अच्छे नमूने तीन रचनाओ मे मिलेगे। 'रुस्तम सोहराब', 'बिल्वमगल' और 'ऑख का नशा'। खासकर 'ऑख का नशा' हश्र के चरित्र-रचना के श्रेष्ठ नमूनो मे से है, और शायद उस जमाने की हिन्दी सवाद रचना की भी अच्छी झलक पेश करता है। हश्र के जो कुछ नाटक बेतुके मजाकिया कथानको के मेल से बचे हुए है उनमे 'रुस्तम सोहराब' और 'ऑख का नशा' भी है। यह एक वजह थी जिसके आधार पर मैने 'रुस्तम सोहराब' मच पर पेश करना चाहा था। इस नाटक की बनावट मुझे पसन्द आयी। इसमे शुरू से आखीर तक हर दृश्य मे बस एक ही कहानी अपने चरम-बिन्दु की तरफ बढती नजर आती है, कोई चरित्र बेकार नज़र नही आता, कोई मजाकिया टुकडा नाटक के बढाव मे रुकावट पैदा नही

करता। गाना इस नाटक मे सिर्फ एक जगह है और वह बहुत मुनासिब है यानी सिपाहियो के शिविर मे एक नाचनेवाली गजल गा रही है। इसलिए हश्र के और नाटको की तरह गानो की भरमार भी कहानी को बोझिल नही बनाती।

सवादो और चरित्र-चित्रण मे एक बनावटी गान और गूज-गरज जरूर पायी जाती है, जैसा कि उस जमाने के नाटको का कायदा था। लेकिन यह धूमधाम फिरदौसी की उस पुरानी कहानी के लिए ऐसी अनुचित नही मालूम होती। भाषा रवानी के साथ लिखी गयी है, और लखनऊ के अच्छे मुहावरे मे लिखी गयी है। लेकिन इन तमाम बातो से हटकर जिस चीज ने मेरा ध्यान इस नाटक की तरफ खास तौर से खीचा था, उसका सम्बन्ध नाटक के विषय से है। इसके कथानक मे दो पहलू स्पष्ट उभरते है। एक तो यह कि लडाई और जग एक बेकार काम है , और दूसरा पहलू, एक बाप, यानी रुस्तम के निजी दुर्भाग्य का। नाटक के रूप के अलावा मुझे विषयवस्तु के उन दोनो पहलुओ से खास दिलचस्पी थी, खासकर एक बाप के दुर्भाग्य से कि वह बुढापे मे अपने जवान और इकलौते बेटे को अपने हाथो नादानी मे कत्ल कर देता है।

कुछ तो हमने जान-बूझकर कोशिश की कि यह नाटक एक हद तक पारसी थिएटर की याद ताजा करे और एक हद तक आधुनिक शैली के रगमच की झलक दे। कुछ यह भी हुआ कि अनजाने ही ये दोनो तत्व प्रस्तुति मे आ गये। जैसे मूक अभिनय का या परदो का इस्तेमाल जैसी चीजे तो जान-बूझकर ही की गयी कोशिश का नतीजा थी। लेकिन कुछ पुराने ढग के अभिनेता जो इस नाटक के लिए उपयुक्त नज़र आये उनके अभिनय मे मेरी कोशिशो के बावजूद एक पारम्परिक ढग बना रहा जो मुझे नापसन्द था। उसकी वजह से सारी प्रस्तुति मे अभिनय की दृष्टि से वह समतलता और सगति शायद पैदा न हो सकी जिसके बिना शैली पैदा करना नामुमकिन है। इसके बावजूद अगर यह नाटक कई बुद्धिजीवी लोगो को अच्छा लगा तो उसके माने ये है कि इस नाटक मे भी कोई ऐसी बात थी जो आज के थिएटर देखने-वालो के लिए आर्कषण का कारण साबित हुई।

सबसे बडी वजह इस नाटक को चुनने की तो खैर यही थी कि यह बीसवी सदी के सबसे कामयाब पेशेवर रगमच का एक नाटक था। हम देखना चाहते थे कि सचमुच इसमे कितनी जान है, और क्या यह आजकल के वातावरण मे भी कामयाब साबित हो सकता है। इसलिए इसकी कामयाबी

ने शायद यह साबित कर दिया कि पारसी थिएटर की सफलता केवल अस्थायी और आकस्मिक नही थी, बल्कि कुछ इस ढग की थी जिसमे हिन्दुस्तानी स्वभाव और हर सतह के लोगो की रुचि का ध्यान रखा गया था। आलोचक शायद इस पर भी सहमत हो कि 1960 मे 'रुस्तम सोहराब' की कामयाबी मे प्रदर्शन के आधुनिक ढग का भी एक हद तक हाथ था। यह बात इसलिए भी ख्याल मे आती है कि 'रुस्तम सोहराब' आगा हश्र के उन अच्छे नाटको मे से है जिसे वह पारसी थिएटर कम्पनियो के मच पर पेश करने मे आखीर उम्र तक नाकामयाब रहे।

'रुस्तम सोहराब' उन्होने प्रौढता के अन्तिम दिनो मे लिखा था, और एक बार पारसी थिएटर की व्यावसायिक आवश्यकताओ को भूलकर लिखा था। यही वजह थी कि यह नाटक लिखकर उन्होने अपने दिल की प्यास तो बुझायी, लेकिन पारसी थिएटर के किसी मालिक को इस मामले मे अपना हमख्याल बनाने मे कामयाब न हो सके। इस बात पर गौर किया जाये तो फिर यह महसूस होता है जैसे कि आगा हश्र ने 'रुस्तम सोहराब' अपने जमाने के लिए नही, आइंदा ज़माने के लिए लिखा और इसलिए यह नाटक पहले नही खेला जा सका, बल्कि 1960 मे पहली बार खेला गया और कामयाब हुआ।

नाटक की बनावट पर गौर कीजिये तो भी यही बात सम्भव जान पडती है। गाने और मजाकिया कथानक जो पारसी थिएटर की जान थे वे इसमे नही पाये जाते। यानी वे तत्व इस नाटक मे नही है जिनके आधार पर पारसी थिएटर ही की वजह से हिन्दुस्तानी फिल्म की बुनियाद डाली गयी थी और जो आज तक निहायत टिकाऊपन और मजबूती के साथ कायम है। मौजूदा युग मे हम पहले इब्सन और बाद मे योरोप के दूसरे नाटककारो से परिचित हुए जिसमे ब्रेश्ट के नाम को भी शामिल करना होगा। इसके साथ-साथ यह भी है कि वे लोग जो पश्चिम के रगमच और सिनेमा की तरफ खिचे वे हिन्दुस्तानी फिल्मो के लचर गानो और बेहूदा कहानियो और सस्ती रुचि से पूरी तरह तग आ गये। गोया ऐसे नाटको के लिए जमीन तैयार होती गयी जिनमे गानो और मजाकिया टुकडो की बहुतायत न हो और जिनमे कहानी कहने का अन्दाज अगर इब्सन का-सा न हो तो ब्रेश्ट के महारगमच का-सा हो।

शेक्सपियर का नाम मै इसलिए नही लेता कि शेक्सपियर के नाम पर तो आगा हश्र ने अपने नाटको का लगभग सारा ढाँचा ही खडा किया था। लेकिन शेक्सपियर के अनुवाद आगा हश्र के यहाँ इस बुरी तरह बिगड़कर रह

गये कि उनके नाटको का नाम शेक्सपियर के थिएटर के साथ लेने मे शर्म आती है। लेकिन अगर गौर किया जाये तो शेक्सपियर का नाट्य रूप सबसे रचे हुए अन्दाज मे रुस्तम सोहराब ही मे आगा हश्र शामिल कर सके है। शेक्सपियर के अनुवादो मे तो वह खुद को यह धोखा देते रहे कि यह सूरत शेक्सपियर के नाटको से ली गयी है। ब्रेशट का थिएटर खुद एलिजाबेथीय थिएटर का बहुत हद तक ऋणी है। लेकिन ब्रेशट और शेक्सपियर का नाम लेने से मेरी मुराद यह भी नही कि आगा हश्र के किसी भी नाटक मे इन लिखनेवालो की गहराई या फैलाव छू भी गया है। मेरा मतलब ज्यादातर नाटको की बनावट से है, और रुस्तम सोहराब की कहानी के इस पहलू से जो आज भी दिलचस्प है।

पारसी थिएटर के दूसरे नाटको को अगर आज स्टेज पर पेश करना है तो आधुनिक शैली मे ही पेश करना होगा वरना ये नाटक बेमानी साबित होगे। इस थिएटर के कुछ नाटक है जो नये अन्दाज मे पेश करने के काबिल है और इन नाटको की बनावट मे, इनके चरित्रो और सवादो मे, कुछ ऐसी बाते भी है जिनसे न सिर्फ देखनेवालो का मनोरजन होगा, बल्कि शायद जिनसे आज के नाट्यकार भी किसी हद तक फायदा उठा सकते है। क्योकि इनकी सबसे बडी खूबी यह है कि ये बुनियादी तौर पर हिन्दुस्तानी स्वभाव और हिन्दुस्तानी परिवेश के नाटक है—यानी वह स्वभाव और परिवेश जो हजार बार बदलने के बाद भी सदियो से ज्यो का त्यो रहा है।

फिर यह भी सोचना होगा कि आज का हिन्दी और उर्दू थिएटर, बल्कि सारे हिन्दुस्तान का थिएटर, उन रास्तो की तलाश मे है जिन पर चलकर वह नये-नये रूपो मे खुद को ढाल सके—ऐसे रूप जिन्हे देखकर हम यह कहे कि इस थिएटर मे एक साथ एक तरह की ठेठ भारतीयता भी पायी जाती है और एक अन्तर्राष्ट्रीयता भी। और अगर यह बात सही है तो जहाँ हम ब्रेशट और बेकेट, विशाखदत्त, शूद्रक और कालिदास, शेक्सपियर और मोलियर की तरफ बढते है, वहाँ हमे उस डगर का भी स्वागत करना चाहिए जिस पर कई साल तक पारसी थिएटर बडी कामयाबी से चलता रहा है। यह भी हमारे थिएटर की प्रगति के सिलसिले की एक महत्वपूर्ण कडी है। और सबसे बडी बात यह है कि इसमे हमारे बचपन की कुछ लतीफ यादे भी शामिल है।

(नटरग, अक 9)

विभु कुमार द्वारा साक्षात्कार

विभु कुमार तनवीर साहब, आज अखिल भारतीय स्तर पर, आपका और आपकी नाट्य सस्था नया थिएटर का नाम और चर्चा है। मुझे लगता है, आपका और आपकी सस्था का काम देश की अन्यान्य नाट्य-सस्थाओ से, मसलन, दिशातर, अनामिका, थिएटर यूनिट आदि से बिल्कुल ही भिन्न स्तर पर है। क्या आप बतायेगे कि वे कौन-सी भिन्नताएँ है और आपने इस स्तर पर कार्य-प्रणाली को क्यो चुना ?

हबीब तनवीर · सब से बडी विशेषता गालिबन यह है कि लोकनाट्य टेकनीक मैं इस्तेमाल करता रहा हूँ—हर किस्म के ड्रामे मे। खास तौर से ऐसे ड्रामो मे, जो कि शास्त्रीय नाटको से ताल्लुक रखते है—मसलन सस्कृत के ड्रामे और उनके अदर भी लोक परपराओ से फायदा उठाकर और दूसरे नाटको मे भी। मेरे खयाल से यह एक चीज है। और दूसरी यह कि देहात के ऐक्टर मै ले के आया हूँ और उनको शहरी ऐक्टरो के साथ मिलाकर प्रोडक्शन किया है।

विभु कुमार इसमे जो दूसरा प्रश्न था वह यह कि अनामिका, दिशातर या थिएटर यूनिट जिस प्रकार के नाटक कर रही है, उस प्रकार के नाटको की योजना आपके दिमाग मे है या नही ?

हबीब तनवीर बात यह है कि मै अपने यहाँ के 'फोक थिएटर' मे बहुत विश्वास रखता हूँ। उसमे जो जान होती है, उससे बहुत फायदा उठाकर, शहरी ड्रामे, कल्चर और थिएटर को, और निखार सकते है—ऐसा मेरा विश्वास है। जरूरत है सही मानो मे देहाती परपराओ से फायदा उठाने की और इसी से वह 'सिथेसिस', जिसकी हमे जरूरत भी है, पैदा हो सकेगी। और दूसरी सस्थाओ के जो आपने नाम लिये, उनके नाटको मे यह चीज कम पायी जाती है।

विभु कुमार आपका मतलब है जिस प्रकार के नाटक आज आप कर रहे है, उससे दर्शक ज्यादा जुड़ेगा नाटक और रगमच के प्रति ?

हबीब तनवीर हाँ। एक यह चीज, और दूसरी यह कि मै अपने नाटक और थिएटर की जो रूपरेखा बनाता हूँ, और आइदा जो ड्रामे लिखने वाला हूँ, और दूसरे लोग जो लिखेगे, मै चाहता हूँ प्रभाव पडे उस पर हमारी शास्त्रीय और लोकनाट्य दोनो परपराओ का।

विभु कुमार तनवीर साहब, आपकी बात काफी ठीक है, लेकिन आज जिस तरह के नाटक लिखे जा रहे है—क्या आप उनसे सहमत है ? अगर नही तो क्यो ?

हबीब तनवीर : असहमत होने का तो सवाल ही पैदा नही होता, विभु। अलबत्ता यह और बात है कि हर वह ड्रामा जो खेला जा रहा है—मै खुद खेलना नही चाहूँगा। हालाँकि उनमे से कुछ ऐसे ड्रामे भी है जिन्हे मै देखना अवश्य पसद करूँगा। कुछ ऐसे है जो मै खेलना किसी भी तरह पसद न करूँ। मसलन, कुछ ऐसे ड्रामे जो दूर से मुझे अच्छे लगे। मिसाल के तौर पर आधे-अधूरे, जो मुझे एक हद तक पसद है—लेकिन मै उसे खुद खेलना नही चाहूँगा। उसके मुकाबले गिरीश कारनाड का हयवदन, वह ड्रामा मै खेलना चाहता हूँ, मुझे पसद है। इसलिए भी कि लोक सस्कृति का प्रभाव कुबूल किया है गिरीश कारनाड ने। इसे मैं प्रोडक्शन मे और निखारकर प्रस्तुत कर सकता हूँ। दूसरी जो बात आप कह रहे है, लोक-सस्कृति की, उसके अदर बडी गुजाइशे है और उसका कई तरह का इटरप्रिटेशन किया जा सकता है।

विभु कुमार क्या आपको नही लगता कि हिंदी रगमच का क्रमिक विकास न हो पाने से, उसने जो छलाग एकदम से अत्याधुनिक नाटको पर लगायी है, वह कई मानो मे बेतुकी-सी है ? और क्या यही कारण नही है कि आज का दर्शक हिंदी रगमच से अपना तादात्म्य इतनी आत्मीयता के साथ

नही जोड पाया है जितनी आत्मीयता के साथ महाराष्ट्र या बगाल का नाट्य-प्रेमी दर्शक जुडा है ?

हबीब तनवीर : आपका यह अदाजा बडी हद तक सही मालूम होता है। इसमे कोई शक नही कि हमारे यहाँ एक तसलसुल नही मिलता है—और उसकी वजह से कुछ अदेशा यह होता है कि जिस तरह के नाटक लिखे जा रहे है, उनमे एक यह रुझान पाया जा रहा है कि सारा इस्पिरेशन, सारी प्रेरणा मगरिब (पश्चिम) के नाटको से ली, और वह भी इस किस्म के कि जिनकी न टेकनीक, और न जिनकी बात और न मौजू मेल खाता है हमारी जिदगी से, हमारे समाज से। तो देखने वाले दर्शक जो आत्मीयता नही महसूस करते उसकी वजह शायद सिर्फ यह न सही—एक जरूर हो सकती है। अलबत्ता और बहुत-से कारण शायद इसके है। और इसके लिए जितनी चीजो की जरूरत है सभी कुछ करना होगा। लेकिन आपने जो एक बात रखी है सामने कि हमारे यहाँ ऐसा विकास जिसका ताल्लुक एक परपरा से हो जो बढती रहे, बराबर लगातार—उसकी कमी का नुकसान भी है और एक हद तक फायदा भी। फायदा यह है कि आधुनिक नाटककार जो चाहते है परपराओ से मुँह मोडकर आगे की तरफ बढे—ऐसे लिखनेवालो को यह मौका मिल रहा है कि वे आधुनिकता को मोड दे सके नाटको से। इसमे अदेशा हमेशा यह रहता है कि परपराओ को जानकर और फिर जानबूझकर मुँह मोडना एक चीज होती है—और न जानना और जानते हुए एक खिला के अदर से, एक वैक्यूम के अदर से, कोई चीज पैदा करना दूसरी चीज होती है। लेकिन उसके अदर जो एक बेताल्लुकी होती है वो गोया उसके अदेशे है, खतरे है। इससे यह चीज भी साबित होती है कि जिस तरह की शिक्षा हमारे यहाँ दी जा रही है, स्कूलो और कालेजो मे, जिस तरह की ज़िदगी हमारी हो गयी है, तो उसमे और भी ज्यादा जरूरी है कि हम इस बात पर गौर करे कि जो लोग पढे-लिखे आ रहे है उन पर परपराओ का प्रभाव पडे—उनमे रुचि पैदा हो इस चीज के लिए।

विभु कुमार : यानी नाटक का परपरा के साथ जुडा हुआ होना कम से आप अनिवार्य मानते है ?

हबीब तनवीर : जी हाँ, बिल्कुल।

विभु कुमार : इसी सदर्भ मे मुझे यह भी लगता है कि हिंदी दर्शको की हिंदी रगमच के प्रति अरुचि अब तक इसलिए भी है कि हिंदी के रगकर्मी और नाटककार जिस तरह के नाटक लिख और प्रस्तुत कर रहे है, वे एक खास

ये एमेच्योर है (देहात के है) या प्रशिक्षित नही है इसलिए इनका प्रस्तुतीकरण उतना अच्छा नही होता ?

हबीब तनवीर हाँ, अतर बहुत लगता है। इसकी वजह भी यही है कि नेशनल स्कूल आफ ड्रामा एक तो नाम ठीक नही है। उसका नाम है—नेशनल स्कूल आफ ड्रामा पर वह हिंदी भाषा मे ऐक्टिग सिखाता है। बहुत अच्छा काम करता है कई एतबार से। इसके बावजूद यह एक बुनियादी गलत बात है कि जहा हमे जरूरत है जितनी जबाने हमारी हैं (चौदह जबानें है कुल) तो शायद चौदह इस तरह के स्कूल होने चाहिए। यह एक गलत बात लगती है कि बगाल, गुजरात, केरल, महाराष्ट्र का ऐक्टर वहाँ पर आये और हिंदी भाषा मे ऐक्टिग सीखे। जबकि मातृभाषा से ताल्लुक इस प्रकार के क्रिएशन का, उस सस्कृति से जो जबान के अदर छिपी हुई है उस लिहाज से उसमे फर्क भी मिलता है। अब अगर लखनऊ का और वह भी उन्नीसवी सदी का नवाबी कल्चर हम पेश करना चाहे तो उसके लिए पहला लाजिमी उन्सर होगा ऐक्टर का लबो-लहजा, बैठने-उठने का तरीका, सलाम करने का, खाने-पीने का, इस सबका जो अदाज होता है इसान का। तो इसके लिए जरूरी है कि स्कूल इस तरह का हो कि पूरी चीज तमाम तकमील के साथ सिखा सके। अथवा दूसरा तरीका यह है कि लखनऊ के आदमी को पकड ले आप जिसमे जरा-सी भी ऐक्टिग की चिगारी हो, टेलेट हो। तो जब कमी है इस तरह की ट्रेनिग की तो बेहतर तरीका यह है कि वैसे आदमी को आप पकड ले। मै यही करता हूँ आसान काम। लखनऊ के आदमी को पकड लेता हूँ लखनऊ की ऐक्टिग करने के लिए और गाँव के आदमी को पकड लेता हूँ गाँव की ऐक्टिग करने के लिए। और अगर ऐसा न हो, और देहात की चीज अगर शहर का आदमी करे और कच्चा हो, तो 'सूडो' इफैक्ट पैदा होता है जिसके मै बहुत खिलाफ हूँ। यह चीज बगाल और महाराष्ट्र मे कम पायी जाती है क्योकि उनका ताल्लुक अभी भी अपनी जमीन से है। यहाँ शहर का आदमी जब किसान बनता है तो उसे मालूम होता है उसका अदाज हाथ चलाने का, बात करने का, कपडे पहनकर उनको सभालने का, यह सब उसे आता है। यह बात हमारे यहाँ हिन्दी मे कम है महज इसलिए कि हटे हुए है अपनी परपराओ से अगर, तो अपनी जमीन से भी हटे हुए है। और उन तबको से भी कटे हुए है जो देहातो मे पाये जाते है।

विभु कुमार. आपके नाटक इद्र लोकसभा को लेकर तरह-तरह की बाते उठी। कुछ ने यहाँ तक कहा कि नाटक और मच को किसी पार्टी

विशेष के प्रचार का मुद्दा नही बनाना चाहिए। इस सदर्भ मे आप क्या सोचते है ?

हबीब तनवीर : यह एक गलतफहमी की बिना पर है, जिसका नतीजा तो यह होगा कि 'एजिटप्राप प्ले' बिल्कुल न हो—जिसका मै बहुत कायल हूँ, क्योकि मेरी बुनियाद आवामी थिएटर से (इप्टा) रही है। उस वक्त हम इसी किस्म के ड्रामे किया करते थे। बल्कि कभी-कभी तो कौमी मसायल जो सामने आते थे, उन पर बहुत जल्दी मे नाटक लिखा करते थे। दिल्ली मे यह कमी बडी शिद्दत से महसूस हो रही थी। बरसो से मै यहाँ था, हर किस्म के ड्रामे मैने यहाँ किये, पर न मैंने और न अन्य किसी ने इस किस्म का ड्रामा किया। इद्र लोकसभा मे मैने तकरीबन सभी पार्टियो का मखौल उडाया है। इसे मैने इप्टा के जमाने के 'पार्टी लाइन' ड्रामो की तरह नही लिखा है। बल्कि सभी पार्टियो की खामियाँ गिनायी है। लेकिन ड्रामा था मुतल्लिक इलेक्शन के और उसी समय खेला गया। इसलिए इसका एक छोटा-सा मकसद था कि वोटर को साफ-साफ सोचने मे मदद दी जाय। इसलिए इसमे हमने पौलिटिकल एनालिसिस किया और खामियाँ दिखायी तमाम पार्टियो की। और अत मे इसी नतीजे पर पहुचे कि सबसे कम खराबी इदिरा गाँधी की काग्रेस पार्टी के अदर है। चुनाचे वोट अगर दो तो इसी पार्टी को दो—चूकि केन्द्र मे सरकार बहुत मजबूत होनी चाहिए और दूसरी कोई पार्टी सरकार बनाने के काबिल है नही, और चूकि सबसे कम खराबी इसी पार्टी के अदर है। यह कहने के लिए हमने किसी भाषण से काम नही लिया। सिर्फ आखीर मे झडा दिखाया था काग्रेस पाटी का। और जब हमने इसे नयी दिल्ली मे दिखाया तो झडा भी नही दिखाया। क्योकि उस वक्त तक चुनाव भी हो चुका था। इसलिए जरूरत भी नही थी। सो मात्र सैटायर ही बाकी रह गया था।

तो यह चीज़ थी और मै समझता हूँ कि इन ड्रामो की बेहद कमी है। और इसीलिए बॅगला देश का मामला लेकर हमने कुश्तिया का चपरासी ड्रामा लिखा। इसमे हम कहना चाहते थे कि हथियारो के जरिए हिदुस्तान को बँगला देश की मदद करनी चाहिए। हमने सितबर-अक्तूबर मे यह ड्रामा खेला। उस वक्त तक सरकारी पालिसी के यह खिलाफ पडता था। दिल मे उनके क्या था, यह किसी को नही मालूम। इत्तिफाक है कि दिसबर तक यो हुआ कि लडाई मे हम शरीक हुए। पाकिस्तान के हमले की वजह से शरीक होना पडा। गोया ड्रामा सही हो गया। तो मैं इस बात का बहुत

कायल हूँ कि एक क्रिटिकल किस्म का थिएटर, पोलिटिकल किस्म का, जो पार्टियो से आज़ाद हो, होना चाहिए। यह थिएटर इस वक्त दिल्ली मे बहुत कम है, और जिसकी कि इस वक्त जरूरत है।

विभु कुमार दिल्ली मे ही क्यो, बल्कि हर क्षेत्र मे इस किस्म के थिएटर की जरूरत है, यह कहना शायद ज़्यादा ठीक होगा।

हबीब तनवीर ˙ कलकत्ते मे शायद है। कलकत्ते मे थिएटर की राजनीतिक परपराएँ काफी अच्छी रही है। और यह कहना मुश्किल होगा कि हर जगह इसकी कमी है। दिल्ली मे यह कमी ज्यादा इसलिए खटकती है कि वहाँ उथले किस्म के दर्शक ज्यादा है। साथ ही नाटक करनेवालो मे भी एक कमी है 'पोलिटिकल काशसनेस' की जो कि एक गलत बात है। और मुझे पसद नही।

विभु कुमार लेकिन अपने आप मे यह अजीब बात नही है कि दिल्ली जो राजनीति का केन्द्र है वहाँ आप को लगता है 'पोलिटिकल काशसनेस' नही है ?

हबीब तनवीर . विभु, दिल्ली मे, यही तो खास बात है। वह तबका जो अपने आपको बुद्धिजीवी तबका कहता है, आर्ट और कल्चर से वास्ता रखता है, वह समझता है कि इस तरह का इटरेस्ट लेना जिससे बाकायदा मुल्क के पोलिटिकल सिस्टम पर असर हो, हल्का काम है, जो कि सरासर गलत है। मै समझता हूँ कि एक आर्टिस्ट को, एक कलमकार को, बहुत गर्मजोशी के साथ इसमे हिस्सा लेना चाहिए। मै यह नही कह रहा हूँ कि मात्र इसी किस्म का नाटक होना चाहिए या थिएटर पनपना चाहिए। लेकिन अहम सवाल इस वक्त यह है कि हर किस्म का नाटक और थिएटर पनप रहा है, सिवाय इस एक किस्म के नाटक और थिएटर के।

विभु कुमार . यानी आप मानते है कि आज के युवा भारतीय मानस के लिए राजनीतिक चेतना से सम्पन्न नाटको की आवश्यकता है ? और यह भी कि नाटककार को कमिटेड होना ही पडेगा ?

हबीब तनवीर ˙ यकीनन। इसके बगैर यह समझ मे नही आता कि जैसा मुल्क हिदुस्तान जो एक डेवलपिग मुल्क है, जिसमे हर क्षेत्र मे तरक्की की जरूरत है, जहाँ वर्गों का बडा अतर है, हजार हमारे मसायल ऐसे है कि जो हमे झुँझलाते है, जिनसे हमे उलझना पडता है—तो कला के जरिये जब तक हम कमिटेड न हो तो इनको दूर करने का हम क्या इतजाम कर सकते है ? और बहुत से तरीके है जिनके जरिए अच्छे कलाकार उसमे उलझे। मगर कमिटेड महसूस करना पहली शर्त है।

विभु कुमार प्रश्न उठता है कि इस प्रकार 'कमिटेड' लेखन से उत्कृष्ट कोटि के नाट्य लेखन मे साहित्यिक दृष्टि से कमी नही आ जायेगी ?

हबीब तनवीर नही, मेरे ख्याल से तो इसका बिल्कुल उल्टा नतीजा निकलेगा। कमिटेड होने का लाजिमी तौर पर यह मतलब नही कि आप किसी पार्टी से कमिटेड हो। और यह कि आप सतही किस्म के, उथले किस्म के नाटक ही लिखे। श्रेष्ठ साहित्य से मतलब अगर 'आर्ट फौर आर्ट सेक' है, तो यह गलतफहमी है। अगर कलाकार अच्छा है तो उसे कुछ कहने की जरूरत नही, वह अपनी कला की इटीग्रिटी छोडे बगैर अपने कमिटमेट को आर्टिस्टिक ढग से प्रोजेक्ट कर सकता है। यह मै नही कह रहा हूँ कि सिर्फ प्रोपेगेडा नाटक ही हो, लेकिन कमिटमेट बडा गहरा जा सकता है, और बगैर कमिटमेट के श्रेष्ठ साहित्य का कसेप्शन मेरी समझ मे गलत है।

विभु कुमार एक सजग रगकर्मी होने के साथ-साथ अब आप राज्यसभा के सदस्य भी है। इसलिए सगीत नाटक अकादेमी के कार्यकलापो के प्रति अब आप की ज़िम्मेदारी और भी बढ जाती है। क्या आप ने इस सदर्भ मे सोचा है कि सगीत नाटक अकादेमी को, आज की राष्ट्रीय और अतर्राष्ट्रीय सास्कृतिक गतिविधियो के सदर्भ मे, नये सिरे से पुनर्गठित किया जाना चाहिए ताकि वह अपना काम सही और प्रतिनिधि ढग से कर सके ?

हबीब तनवीर · अब मेरी जिम्मेदारी सिर्फ इस हद तक बढ गयी है कि एक ऐसा फोरम, जहाँ से मै अपनी राय इस सिलसिले मे दे सकता हूँ, मुझे मिल गया है, जबकि पहले और तरीके थे। पहले अखबारो या कान्फ्रेसो के जरिये अपनी राय जाहिर करते थे। अब पार्लियामेंट के अदर कह सकते है। इसका नतीजा या असर क्या होगा इसके बारे मे कहना जरा मुश्किल है। लेकिन अकादेमी के सिलसिले मे तो बहुत-से लोग सोच रहे है—खुद पार्लियामेट के अदर भी।

मैने इस सिलसिले मे बहुत-कुछ सोचा है और मेरा खयाल है कि अकादेमी का सारा ढाँचा बदल देने की जरूरत है। दरअसल, इस वक्त डिसेट्रलाइजेशन की जरूरत है जबकि तीनो ही अकादेमियाँ इस वक्त दिल्ली मे मौजूद है। यह और बात है कि स्टेट लेवल पर भी अकादेमी मौजूद है, लेकिन इतना इफेक्टिव उनका काम नही है। इस वक्त यही एक सूरत है कि दिल्ली मे जो फक्शनरीज है, काम करने वाले, अकादेमियो के अदर, उनसे हम गोया यह तवक्को रखते है कि इतने बडे मुल्क को, इतने हजार रगो को, जो कल्चर के है, उन सब पर उनकी नजर हो। जो नामुमकिन है जब तक और नीचे नही

उतरेगा मामला, और ऐसे लेवल पर इसकी जिम्मेदारिया नही सौपी जायेगी कि हर क्षेत्र की सस्कृति की देखभाल करने के लिए वही का आदमी मौजूद हो। इस तरह वह अपनी जिम्मेदारियो का अहसास अच्छी तरह कर सकेगा और उससे ज्यादा उम्मीदे रखी जा सकेगी। उस पर एतबार और एतराज दोनो किया जा सकेगा। अभी इस वक्त तो यह सूरत है कि हम एतराज भी नही कर सकते। चुनाचे इसमे कोई शक नही कि अकादेमी का ढाँचा बदलना होगा।

विभु कुमार शहर दिल्ली हो या रायपुर, रगकर्मी की कुछ समस्याएँ जो हमेशा होती है, सब जगह मौजूद है। मसलन, रिहर्सल के लिए उपयुक्त स्थान, समझदार दर्शक, सही कलाकारो की कमी, आदि। इस समस्या के लिए आपके पास कोई ठोस उपाय है क्या? मुझे लगता है कि सगीत नाटक अकादेमी देश की प्रसिद्ध नाट्य सस्थाओ को यदि छोटे शहरो मे नाटक प्रदर्शित करने को प्रोत्साहित करे तो वातावरण निस्सदेह बन सकता है। आपका क्या ख्याल है?

हबीब तनवीर दुरुस्त ख्याल है आपका। और फिर अकादेमी को ही क्यो करना चाहिए यह काम? एजुकेशन मिनिस्ट्री भी कर सकती है। यह काम देश की विभिन्न यूनिवर्सिटियो को भी सौपा जा सकता है। न सिर्फ अच्छे ड्रामा करनेवाले जो लोग मौजूद है उनको चारो तरफ भेजना चाहिए, वरना ड्रामा कैम्प के छोटे-छोटे कोर्सेज होने चाहिए—ऐक्टिग के, थिएटर के, प्रोडक्शन के, जिससे कि छोटे शहरो के लोग फायदा उठा सके। सबसे अच्छा तो यही होगा कि बहुत-सा काम थिएटर का युनिवर्सिटियाँ सम्हाले। ऐक्टिग, प्रोडक्शन आदि के लिए एक अलग फैकल्टी ही हो। और बहुत-से अन्यान्य सरकारी मोहकमे भी है, उन्हे भी सोचना चाहिए कि किस तरह मदद की जा सकती है।

दूसरा तरीका यह हो सकता है कि लोक-नाटक की सस्थाएँ अलग-अलग इलाको मे ऐसी बना दी जाये जो डाकुमेटेशन का काम, प्रिजरवेशन का काम, और साथ-साथ प्रोडकशन का काम नये से नये ढग से करे। इस तरह से सोचा जायगा तो, थिएटर का विकास, जिसकी जरूरत है और जो उसमे एक तसलसुल की कमी है, पूरी हो सकेगी।

विभु कुमार इसी सदर्भ मे, मेरा ख्याल है कि दिल्ली मे जो नाट्य सस्थाएँ है, उन्हे अनुदान मिलता भी है। लेकिन छोटे शहरो मे जो नाट्य सस्थाएँ है, उन्हे तो कोई अनुदान मिलता ही नही। तो क्या इस प्रकार की

कोई व्यवस्था नही होनी चाहिए कि छोटे शहरो मे जो नाट्य सस्थाएँ है उनको भी अनुदान मिले, ताकि वे सही ढग से हिंदी रगमच के विकास की दिशा मे अपना योगदान दे सके ? चूकि मै भी एक नाट्य सस्था हस्ताक्षर से जुडा हूँ, इसलिए जानता हूँ कि उनके सामने जो सबसे बडी समस्या होती है, वह आर्थिक ही है। और उसके बिना अच्छे से अच्छा नाटक भी वे ठीक से प्रस्तुत नही कर पाते।

हबीब तनवीर जब अकादेमियो का काम डिस्ट्रिक्ट लेवल पर होने लगेगा, तो इस तरह की समस्या मेरे ख्याल से सामने नही आयेगी। यही जरूरी भी लगता है। और जिम्मेदारी स्टेट और डिस्ट्रिक्ट लेवल पर आ जाय तो फिर काम करने वाले सामने नजर आयेगे। शहरो की म्यूनिसिपैल्टीज और कार्पोरेशन भी यह काम कर सकती है, कुछ हद तक। इस तरह की जो मुख्तलिफ एडमिनिस्ट्रेशस है, परिषदे है, उनमे भी इस ओर झुकाव पैदा किये जाने चाहिए, कि कला, ड्रामा, थिएटर, सस्कृति, सगीत, नृत्य इन चीजो मे दिलचस्पी ले और जरा-सा पैसा इसके लिए अलग रखे। जो वहाँ से कमी है फिलहाल वह इस तरह पूरी हो जायेगी।

विभु कुमार · तनवीर साहब, आप तो अपने ड्रामो के सिलसिले मे छोटे शहरो मे भी घूमे ही है, और सभव है कि छोटे शहरो की नाट्य सस्थाओ द्वारा किये गये कुछ प्रस्तुतीकरण भी देखे होगे। आपको नही लगा कि इन छोटे शहरो के कलाकारो मे टेलेट की कमी नही है ? ये भी उतना ही अच्छा प्रस्तुतीकरण कर सकते है जैसा कि बडे शहरो की नाट्य सस्थाएँ करती है, मात्र साधनो का अभाव है ?

हबीब तनवीर : अक्सर, अक्सर मुझे ऐसा ही महसूस हुआ है। हाल ही मे मै जयपुर गया था। सब नौजवान थे, बहुत कम ऐसे थे जिन्हे मै पहचानता था। और पाँच दिन के कैम्प मे हमने घटे-डेढ घटे के कुछ माइम्स भी किये। अगर उनमे टेलेट न होता तो बडा मुश्किल था कि उनमे से कुछ टेलेट उभर कर आते। बहुत ताज्जुब हुआ था मुझे यह देखकर। मै इसी तरह मैसूर गया—एजुकेशन मिनिस्ट्री की तरफ से ड्रामा कैम्प था। तमाम यूनिवर्सिटीज़ कालेजो के वे लेक्चरर्स वहाँ आये थे जिनका ताल्लुक नाटक से था। उसमे हर इलाके, हर तबके का और जबान को बोलनेवाला आदमी था। बडा टेलेट नजर आया उनमे। ऐक्टिग मे भी और प्रोडक्शन मे भी। टेलेट की हमारे यहाँ कमी नही है, और उसका छोटे-बडे शहर से कोई ताल्लुक नही है। देहात के अदर भी ऐसे-ऐसे रेयर किस्म के, कामयाब किस्म

के, हुनरमद मिलते है कि ताज्जुब होता है कि आज तक इन कलाकारो को कोई ऐवार्ड क्यो नही मिला ? और इनकी सस्थाओ को अभी तक कोई ग्राट क्यो नही मिली ? मिलनी चाहिए, ज्यादा हौसला-अफज़ाई होगी।

विभु कुमार : इधर कई अच्छे-अच्छे रगकर्मी फिल्मो की ओर झुकते जा रहे है। इसे आप किस रूप मे लेते है ? शुभ या अशुभ ? मतलब कि इसका नाटक पर अच्छा असर पडेगा या बुरा ?

हबीब तनवीर : मेरे ख्याल से तो अच्छा असर पडेगा। इप्टा मे जब हम काम किया करते थे तो लोग इप्टा के अदर ट्रेनिंग पाने के बाद फिल्मो मे चले जाया करते थे। और हम गोया उन्हे हमेशा के लिए खो दिया करते थे। उनमे से ऐसे भी थे कि जो इस गलतफहमी में मुब्तिला रहा करते थे —अपने आप को भी फरेब देते थे और हमसे भी यही कहते थे—कि हम जा रहे है पैसा कमाने के लिए और जरा ताकत हासिल करने के लिए, और इसके बाद हम थिएटर मे वापस आ जायेगे। इनमे बडे-बडे कलाकार भी, जिनके नाम मशहूर है, शामिल है। मगर ऐसा हुआ कम है। बल्कि कहा जा सकता है कि बिल्कुल नही हुआ। मै खुद भी फिल्मो मे था और फिल्म से हटा इसीलिए कि वह मुझे पूरी तरह अपनी ओर खीच रही थी। जबकि मुझे उसके अदर इतनी आजादी नही मिल रही थी एक्सप्रेशन की जिससे मुझे सतोष हो। चुनाचे मैं बबई से ही हट गया था ताकि मै उस रास्ते से ही हट जाऊँ, क्योकि उस वक्त पैसे कमाने की समस्या हमेशा मौजूद रहती थी। यह वह जमाना था। पर इस वक्त यह जो नया रुझान नौजवानो मे, ड्रामा-थिएटर करनेवालो मे फिल्मो की तरफ आया है और ये लोग जो इडीवीजुअली या फिल्म फाइनेस कार्पोरेशन के जरिए या अन्यान्य माध्यमो से फिल्मे बना रहे है, या ऐक्टिग मे आ रहे है, इनमे थिएटर का अच्छा प्रभाव मिलता है। और अच्छी अनकनवेशनल फिल्मे बना रहे है, या उनमे काम कर रहे है। ये लोग नये किस्म का आडियेस पैदा करेगे, जो कि ड्रामे-थिएटर की तरफ भी ज्यादा जायेगा। यह मैं कतई नही कह रहा हूँ कि ये सारे ड्रामे-थिएटर के प्रति वफादार रहेगे या वापस आ जायेगे। कुछ ऐसे है जो हमेशा के लिए फिल्म मे जा सकते है। ऐसे लोग जो सही मानो मे नाटकवाले है, और जिनकी घुट्टी मे वह चीज शामिल है, वे आयेगे ही। लेकिन जो फिल्मो मे रह जायेगे, और अगर वे उसमे भी परिवर्तन ला रहे है, तो भी हमे फायदा ही होगा। क्योकि इस वक्त कई बरस की खराब फिल्मो का जो गलत असर जनता के दिलो-दिमाग पर पडा है, उसकी वजह

से वह कोई भी चीज देखने को तैयार नही है सिवाय बबई की घटिया फिल्मो के।

विभु कुमार आपने छत्तीसगढ का चप्पा-चप्पा छाना है। क्या आप की कोई योजना नहीं है कि एक कथा-फिल्म या वृत्तचित्रो के माध्यम से इस अचल की सस्कृति को पूरे देश के समक्ष रखा जाय ?

हबीब तनवीर मै छत्तीसगढी भाषा, सस्कृति और कला का बहुत कायल हूँ। और एक जमाने से मेरे दिल मे खुद यह चीज बनी हुई है कि एक क्या, बल्कि ज्यादा डाक्यूमेटरी फिल्मे बनायी जाये। फिलहाल मै इस सोच मे हूँ कि किस तरह से छत्तीसगढ की बिखरी हुई कला जो देहातो मे पडी हुई है, उन सबको समेटकर एक बार रायपुर-जैसी जगह मे रगमच पर लाकर एक ऐसी गोष्ठी की जाये जिसमे यहाँ के और बाहर के बुद्धजीवी जमा हो। और आपस मे बातचीत करे कि कितनी जान महसूस करते है इस कला मे। उससे जो नतीजे निकले—उनसे हम फायदा उठा सकते है कि इस डाईलेक्ट मे जो कल्चर मौजूद है उसके लिए क्या कुछ किया जा सकता है, और करना चाहिए।

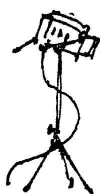
विभु कुमार . तनवीर साहब, इद्र लोकसभा नाटक आपने ट्रक पर किया था। मुझे लगा कि आपका यह प्रयोग एक प्रकार से ‘स्ट्रीट प्ले’ के समान ही है। और मैं अक्सर यह सोचता रहा हूँ कि आज के सामान्य दर्शको को ‘स्ट्रीट प्ले’ के द्वारा ही ज्यादा से ज्यादा नाटको की ओर मोडा जा सकता है और उनमे एक सही राजनीतिक दृष्टि भी पैदा की जा सकती है। आपने भी तो सभवत इसी बात को मद्देनजर रखा था ?

हबीब तनवीर · इस तरह के ‘एजिट-प्राप प्ले’ का, जिसे हम ‘पोलिटिकल प्ले, भी कहते है, स्ट्रीटकार्नर प्रेजेटेशन बहुत मुत्तसिर होता है। इप्टा के जमाने मे इस तरह के शो हम लोग बहुत किया करते थे। इस बार, इलेक्शन के जमाने मे हमने चालीम दिन के अदर बत्तीस मुखतलिफ जगहो पर कोई बत्तीस शो किये। इसमे जो मोबिलिटी की जरूरत थी उसके लिए हमने ट्रक का उपयोग किया। अब मै इस नतीजे पर पहुचा हूँ कि यदि एक से ज्यादा ट्रक हम उस तरह के बनाये तो उन मडलियो को जो गॉव-गॉव घूमकर नाटक दिखाती फिरती है, उनको सहारा देने के लिए यह चीज बडी मददगार साबित हो सकती है। मेरा ख्याल है कि सरकार को भी इस तरफ तवज्जो देना चाहिए। अलबत्ता इसमे यह समस्या जरूर पैदा हो सकती है कि आप टिकट किस तरह लगायेगे। लेकिन उसका भी, घेरा कनात वगैरह खीचकर, हल निकाला जा सकता है।

विभु कुमार : अभी कुछ दिन पहले विजय तेंदुलकर के नाटक सखाराम बाइंडर को लेकर काफी-कुछ बहस चली। और सवाल उठा कि किसी भी साहित्यिक विधा के लिए इस प्रकार की सेंसरशिप नहीं होनी चाहिए। कुछ का विचार था (ज्यादातर सरकार का) कि चूंकि इस प्रकार के प्रदर्शन से जनता पर बुरा प्रभाव पडता है इसलिए सेंसरशिप आवश्यक है। आप क्या सोचते हैं ?

हबीब तनवीर सेंसरशिप होनी चाहिए या नहीं होनी चाहिए यह है मुख्य सवाल। आखिर में कुछ न कुछ हद तक सेंसरशिप तो रखनी ही होगी कोई भी गवर्नमेंट नहीं मानेगी। क्योंकि ऐसे भी ड्रामे हो सकते हैं, इतने ज्यादा ऐब्सक्योरेंट किस्म के, इतने ज्यादा खतरनाक किस्म के, या इतनी ज्यादा बदमज़ाकी फैलाने वाले कि आप-हम खुद कहेंगे कि ऐसे ड्रामों पर कुछ न कुछ पाबंदी लगनी चाहिए। लेकिन आर्ट और कला के मैदान में मैक्सिमम आजादी लाजिमी शर्त है। उसे पहले पनपने देने का मौका मिलना चाहिए जो कि अभी ड्रामे और थिएटर को नहीं दिया जा रहा है। ड्रामे और थिएटर के सही विकास के लिए मैक्सिमम आजादी पहली और आखिरी शर्त है।

(नटरंग, अंक 21)



हदीसे राज़ो नियाज़

तुझे भी याद है वह अह्दे दोस्ती अपना
कहा था साथ लिखेंगे हदीसे राज़ो नियाज़ ।
फिज़ा की गोद से फूटेगा नग्मए-सहरी
सकूते शब मे जो छेड़ेगे हम दिलो का साज ।
खिजा का दौर है लेकिन सिखा ही जाएगे
हम इस उजाड चमन को बहार के अदाज़ ।
कहा था जीस्त की तारीक शब महक उठ्ठे
करेंगे फाश कुछ इस तरह ज़ख्मे दिल का राज ।
ये रात ज़ुल्म की ढल जाएगी तो हम इक साथ
खुली फिजा मे दिखाएगे मस्तिये-परवाज ।

मगर ये रात हुई है कुछ और भी बेनूर
निगाह मे लबो रुखसार की ज़िया भी नही ।
अभी थी दिल पै किसी की निगाहे लुत्फो करम
पर अब ये है कि कोई ख जर-आज़माँ भी नही ।
सभी से खन्दए जाहिर की दाद मिलती है
मगर कोई गमे पिनहा को पूछता भी नही ।
कही से जा के तेरी रहगुज़र से मिलता हो
मेरी नज़र मे कोई ऐसा रास्ता भी नही ।
बाए हमा सितम ओ रजो ग्रम, बाए हमा जौर
खुशा वकारे नफस जीस्त का गिला भी नही ।

सदा रहे मेरी राहो से दूर दूर मगर
इसी तरफ को निकलती है तेरी राहे भी ।
हैं तेरे लब पे भी नग्मे वही बहारो के
बहुत दिनो से हैं वीराँ तेरी निगाहे भी ।

मेरी नवाए सहर मे गुदाज तुझसे है
मुझी से है तेरे नाले भी तेरी आहे भी ।
मेरी तरह तेरे हाथो मे भी वही परचम
किसी को ढूँढती फिरती है तेरी बाहे भी ।
मैं इक हुजूम के हमराह और यू तनहा
मै सुन रहा हूँ यही से तेरी कराहे भी ।

है अब भी अजुमने दिल को इतजार तेरा
चिरागे जीस्त जला शम अजुमन बनकर ।
निकल भी जा मेरे जिन्दाने दीदए नम से
लबो पे खेल तबस्सुम का बाँकपन बनकर ।
मताए नूर को मत कर शिकारे जुल्मते शब
उफक से गम के उभर शौक की किरन बनकर ।
नसीमे सुब्ह की मानिंद सहने दिल मे उतर
शमीमो जमजमा औ' रग की दुलहन बनकर ।
बस आ भी जा कि चले साथ मजिलो से परे
बढे पयामे बहार चमन चमन बनकर ।

शबे सियाह मे आ जैसे आफताब आए
दयारे यास मे आ जैसे इन्कलाब आए ।

ब'बई, 1952

रामनाथ का जीवनचरित्र

रामनाथ ने जीवन पाया साठ साल या इकसठ साल
रामनाथ ने जीवन मे कपडे पहने कुल छ. सौ गज़
पगडी पाँच
जूते पद्रह
रामनाथ ने अपने जीवन मे सौ मन चावल खाया
सब्जी दस मन
फाके किए अनगिनत
शराब दो सौ बोतल
पूजा की दो हजार बार
रामनाथ ने अपने जीवन मे धरती नापी कुल जुमला
पैसठ हजार मील
सोया पद्रह साल
प्यार की राते उसे मिली दो ढाई हजार
उसके जीवन मे आई बीबी के सिवा कुल पाँच औरतें
एक के साथ पचास की उम्र मे प्यार किया और
प्यार किया नौ साल
सत्तर फीट कटवाए बाल
सत्रह फीट नाखून
रुपया कमाया दस हजार या ग्यारह
कुछ रुपया मित्रो को दिया कुछ मदिर को
और छोडा आठ रुपये उन्नीस नये पैसे का कर्ज
बस यह गिनती रामनाथ का जीवन है
इसमे शामिल नही चिता की लकडी, तेल, कफन
तेरही का भोजन
रामनाथ बहुत हँसमुख था उसने पाया इक सन्तुष्ट सुखी जीवन

चोरी कभी न की
कभी कभार अलबत्ता कह देता बीबी से झूठ
गाली दी, दो तीन महीने मे एक-आध
एक च्यूटी भी नही मारी
बच्चे छोडे सात ।
भूल चुके है गाँव के सबलोग अब उसकी हर बात
रामनाथ !

दिल्ली, 1962

ग़ज़ल

तजकरा जफाओ का
अश्क खू की सूरत मे
गम की तरजुमानी है
मुझको गम से क्या लेना
पर मेरी वफाओ की
इक यही निशानी है ।
शाद काम-ओ-आसूदा
कब तेरी मुहब्बत है
काश तू समझ सकती
अपने साथियो का गम
अपनी जिन्दगी का गम
क्या ये जिन्दगानी है ।
रगोबू के अफसाने
हो न जाए पजमुर्दा
निकहते न मर जाए
हर्फ हर्फ मे पिनहा
है खिज़ा की वीरानी
जुल्म की कहानी है ।
दादे सब्र देते है
दर्द और बढता है
खाक उस तसल्ली पर
इन्तहाए दिल मालूम
दिल के दुश्मनो को भी
जोम-ए-पासबानी है ।
थे तिलस्मे ज़रदारी
एक ही इशारे मे
हो गया तहोबाला

साकिया न जाने क्या
तेरे इकलाबी ने
अपने जी मे ठानी है ।
क्यू नही समझ पाता
क्यू निगाह जाती है
मजिलो से भी आगे
राहबर है दीवाना
काफिले की नजरो ने
किसकी बात मानी है ।
हुस्ने रूए गेती पर
है दवाम का परतौ
अक्से रायते अहमर
अब यहाँ का हर लमहा
जिन्दा और पायन्दा
और गैरफानी है ।
आज तेरे आँचल की
नर्म सरसराहट मे
बिजलियो के तेवर है
और ये बर्क अब मुझको
ऊँचे ऊँचे महलो पर
आज ही गिरानी है ।
वह भी महवे हैरत है
अब मेरी वफाओ पर
बदगुमा है महफिल भी
उनके सामने 'तनवीर'
आज तेरी बातो में
किस कदर रवानी है ।

बम्बई, 1978

गीत

यही हमारी महतारी, ये धरती इतनी प्यारी
यही हमारी महतारी

पर्वत बन अभिमान दिखाती, बन के नदी इतराती।
सूरज को भी यही बुलाती, चाँद का दर्पण लाती।
तारो की महफिल गरमाती हवा का गीत सुनाती।
यही हमारी महतारी . ।

रग भी हस हस कर बिखराती, सुगध भी बरसाती
पेड के पत्तो के सगीत पे मीठे सुर मे गाती।
बादल के मादर पे मचलकर झूम-झूम लहराती।
यही हमारी महतारी . ।

छाती से लिपटाकर बालक को बलवान बनाती।
अपने मुह का निवाला देती, हमको वस्त्र पिन्हाती।
हमको कभी ये दड भी देती, हमको कभी हसाती।
यही हमारी महतारी . ।

चपा चमेली गुलाब गेदा फूल भी है हर जाती।
है खरगोश हिरन और बदर, भालू शेर और हाथी।
ये सब पशु पक्षी ये फूल ये सब बचपन के साथी
यही हमारी महतारी ..।

हम धरती के लाल है, धरती के सैनिक भी हम है।
हम जगल के वासी जगल के रक्षक भी हम है
सेवक भी पेडो के हम है, और मालिक भी हम है
यही हमारी महतारी . ।

हिरमा की अमर कहानी से
रायपुर, 1985

गीत

अब रहिये बैठ एक जगल मे, सब कुछ तजकर बैराम लिये ।

वो करम की गठरी सर पर है, और बोझ भी उसका भारी है ।
कुछ बोझ से पॉव रुका भी है, कुछ चलने की तैयारी है ।
कल और किसी की बारी थी, अब आज हमारी बारी है ।
एक नीद का झोका आता है, यानी बहुतेरे जाग लिये
अब रहिये बैठ एक जगल मे ।

ये धन दौलत भी बधन है, घर बार गृहस्थी बधन है ।
बीबी बच्चे बटमार भी है, बढती सम्पती बधन है ।
खुद तेरा दिल गद्दार भी है, खुद तेरी हस्ती बधन है ।
बो जितने दोस्त हमारे थे, सब एक एक करके भाग लिये
अब रहिये बैठ ।

औरो को सुख पहुचाने मे भी, जुल्म का पहलू शामिल है ।
दुनिया मे नाम कमाने मे भी, जुल्म का पहलू शामिल है ।
खुद दानिस्ता मर जाने मे भी, जुल्म का पहलू शामिल है ।
आखिर कब तक ये हाय हाय, एक अभिलाषा की आग लिये
अब रहिये बैठ एक जगल मे ।

देख रहे है नयनै से
दिल्ली, 1992

HABIB TANVIR on THEATRE

Essays and Interview

Contents

What happened ? 153

Brecht for One Producer 157

Producing Lorca 162

Shivpuri's 'Rajhans' 170

Interviewed by Rajinder Paul 175

The Indian Experiment 199

The Crisis of Identity and the Question of Authenticity in Theatre 210

Drama through Synthesizing Rural and Urban Cultures 214

Some Comments on *Charandas Chor* and Theatre in the Rural Areas 221

What Happened ?

Professional theatre was tried in Delhi but it didn't work It was ten years after independence that the first experiment in that direction was made

One or two other efforts were made on the same lines during the last decade but they all came to naught That is one record On the other hand, the amateur theatre also suffered a big setback during the two decades just over As a result, no significant drama group has emerged in the Capital If you look hard, actually there is no group at all, or is there ?

In the absence of theatre enthusiasts of talent and imagination sticking together, purposeful drama activity was impossible The next best thing was to attempt a repertory theatre, in which with each play you change the producer and the cast Considering the migratory tendency of Delhi's actors, this was a shrewd idea You hardly required a group of artists to run such a theatre , an efficient managing committee was enough

The shortlived but productive Theatre Workshop demonstrated during the fifties that it could be done Confining themselves to English plays, frequently taken from out of the much-publicized Broadway or West End hits, they catered to a particular section of the people of Delhi Their audience included members of the diplomatic corps and many other foreigners, for whom Delhi hardly provides any entertainment

There are no cabarets, no concerts, no night clubs—nothing to fall back upon beyond the boredom of cocktail parties No one is more acutely conscious than the sufferers themselves of the need to find ways of spending the evening somewhat more interestingly Creatively inclined people from English speaking countries sought relief in giving themselves to acting and producing either for dramatic societies formed by themselves such as the British High Commission ADC or theatre groups with similar aims and scope organized by Indians

A big spurt to this activity was given by the fact that whenever in a play some ladies and gentlemen of foreign origin participated, not only the remaining population of Chanakyapuri and Diplomatic Enclave thronged to the theatre but many native sahebs and memsahebs took pride in mingling with them. The old colour bar practised in clubs and elsewhere under the Raj existed no more There was no need for it The bara saheb saw to it before he quit India that the new saheb class of natives created by it carried on the cultural legacy The class difference is of course sharpened but there is no colour bar

English plays therefore seemed to pay their way As new groups took to producing plays in English, initiative was wrested from the Hindi theatre The latter was forced to toe the line The process was accelerated by the bilingual groups, which managed to draw for their Hindi plays a section of the same audience which so fondly gave them packed houses in their English presentations.

Coming mostly from the saheb class, this audience of course prefers to go to see English plays, no matter whether they are done by foreign or Indian actors , the Hindi plays poorly attended in any case merely get patronized Copying does not help standards In catering to this particular audience, the imitative Hindi theatre hardly improves Other sections of the audience, consequently, find it unattractive. Meanwhile, the theatre moves in a vicious circle

Hindi drama groups fare no better How could they ? After all, who are the people who run these groups ? Social rebels ? Not at all Mostly they are tame young men, who cannot see beyond the education they received They learnt their dramatics from their professors of English, who themselves attach far greater value to quotations from Oscar Wilde, with proper Oxford accent, than to original thinking Else they learnt it in the theatre school, which amounts to the same thing Where else would they learn theatre from ? There hasn't been any theatre to speak of in this country for hundreds of years Meanwhile, we learnt English and began to attach great importance to the sahebs' culture.

Whatever leaders like Raja Rammohan Roy, Sir Syed and Pandit Nehru may have meant when they sought to introduce and perpetuate a Western system of thought in the name of education of the masses, they certainly ended up making Indo-Anglians of us all And if some of us have turned out to be rank chauvinists it is a result of the same phenomenon , for surely it was in reaction against Indo-Anglianism that some pundits and their followers began to talk in terms of an impossible revival of our Sanskrit 'Sanskriti' and our Bharatiya 'Sabhyata' They advise us to avoid the devil and plunge into the bloody ditch

This in a nutshell is our present cultural position If these two extreme ends of our sensibility could manage to find a forceful dramatic expression, we could still hope to be getting somewhere through the conflict. But even this isn't

happening Instead, an insipid, non-experimental, middle-class theatre that has turned away from the people, their life and their form of expression, is being pointlessly pushed

Only a full-time professional theatre or a dedicated group of artists of vision, hanging together for a period of time, could produce viable new forms of theatre capable of reaching out to all classes of people And this only if they turned to the grassroots of our life and our culture through sustained efforts, popularly supported

All other types of theatre are welcome , they serve some purpose or the other But the real thing—the genuine theatre —does not exist in the Capital That is the lament

Enact, August 1967

Brecht For One Producer

It was not merely because both Garcia Lorca and Bertolt Brecht belonged to the so-called 'generation of '98', known for their efforts to bring pure poetry into all the branches of the arts, that I picked up plays by these two authors for production Nor did I produce the two plays, Brecht's *Good Woman of Setzuan* and Lorca's *Shoemaker's Prodigious Wife*, just because these in all probability had not been done in this country before

I did these plays for more or less the same reasons for which I take up a play, say, by Shakespeare or Shudraka Both Lorca and Brecht possess an epic, lyrical quality—a strain common to Elizabethan drama as well as our classical and folk theatres

In form, they are closer to us than perhaps most other modern playwrights Both Lorca and Brecht, for one thing, had imbibed oriental influences—Brecht Chinese and Indian ,

and Lorca Moorish and Gypsy Above all, however, they are two of the most advanced and prolific modern poets of the world who profoundly reflect the spirit of our age, though on different planes Both the poets were rooted in the classics as well as the folklore of their countries Singers and ballad-makers both, they often conceived their plays in the epic form of a popular song, so to speak Interweaving verse with prose, they strove towards that plastic, musical and dramatic unity in theatre which is so eminently worth emulating for us here in India That is the kind of homogeneity, which in fact should become the hallmark of the theatre-to-be in this country—a homogeneity native to us and still to be perceived in our traditional theatres but not in our contemporary dramatic endeavours

Being sensitive poets, living in difficult times full of the worst political upheavals, both Brecht and Lorca reflected their countries' aspirations on the most aesthetic and the deepest social levels Here, however, the parallel ends and divergences begin These too are of interest—the greatest difference being that Brecht's is an analytical, supremely intellectual theatre in a sociological sense, as against Lorca's with its intuitive striving for a kind of subliminal celebration of deeply felt dream images

I have feelings only when I have a headache, never when
I am writing for then I think

In these lines from one of his poems, Brecht himself clearly states his attitude to writing This, however, is to be taken with a pinch of salt, for Brecht's eminently intellectual approach to play-writing does not exclude the creation of highly individualized, angular characters In yet another poem—a song from a play—he says

Man lives by his head
His head will not suffice
You have a try? Your head will not
Need more than a few lice

Because for this existence
Man has not brains enough

Brecht's poems, which he incorporates in his plays, are usually sung by a chorus that occupies an extension on the right of the stage at the Berliner Ensemble They are however not like the songs in Hindi films that come as so many unnecessary and bothersome appendages, impeding the dramatic progression of the story—that is on the rarest occasion when a Hindi film boasts of a story

On the other hand Brecht's songs enhance action, serving at the same time as a pungent comment upon the action They are integrally related to the main body of the drama, as in the case of some of our good folk plays

The songs also represent one of the main hurdles in the production of a Brecht play on a non-German stage And the same is true of Lorca Do not sing but only chant the songs, the play tends to become heavy and dull Recite them as you would recite lines in an Eliot play or maybe a Greek classic, and they ruin the effect. Translate them into indifferent Hindi and get them sung to Indian tunes, most probably you would end up by making the play too light, bringing it close to a cheap 'nautanki' or a bad Hindi film Another hurdle in the performance of plays by Brecht on a non-German stage is a certain inevitable lack of authenticity in character-building —a most fundamental aspect of character being a man's tongue Indians generally would lack this authenticity even in plays originally written in English for English with us is an acquired culture On the other hand, Indians acting in the English version of a play written originally in another language, are perhaps rewarded by a special, though negative, advantage Speaking English language as we do in our own special manner, we would probably get away with pretending to be the alien, non-English speaking characters of Lorca or Brecht, better than the English-speaking British or American actors

As far as my production of Brecht's *Good Woman of*

Setzuan was concerned, I saw the problem like this here were Chinese characters, originally conceived in German, rendered into American English, to be spoken by multilingual Indians Since from the audience view-point, the 'alienation' could not be more perfect, paradoxically there was a better chance of the Brecht characters coming alive with Indian actors than, for instance, with American

We did try to seize on this chance We did this by not trying to intone the English words in the English or American way but by speaking them in our own various native styles in both Brecht and Lorca plays Beyond voice projection and a certain intelligibility of words, no further effort on speech was wasted Presumably our approach gave us a quaint variegated effect, produced by our numerous regional accents from Patiala to Trivandrum and Baroda to Gauhati What we must have lost on this account was equally beyond our control For one thing, we had no choice, as far as acting talent was concerned The play was being done for University lecturers who had come from many parts of the country to attend a course of dramatic training, arranged by the Education Ministry, and the participants of the course also comprised the cast of the play

As for the problem of singing the verse, we bypassed it , but instead of chanting the lines, as one would in a Greek chorus, the actors directly addressed the audience in a chatty manner whenever they came upon verse In this particular area, therefore, we strove for 'alienation' from another direction The direct talk with the audience made the play seem so much more like the make-believe it was At least, it was hoped that this would produce the right effect, if in a small way

Anyhow, I present only some production problems that faced one particular producer of a Brecht play They by no means exhaust all the problems The most important point, however, is that even if satisfactory solutions to all problems

presented by the most complex Brecht play were eventually found that still gets us nowhere as far as the theatre in India is concerned

We need to dig into our roots and evolve our own forms of theatre that can adequately mirror our own special problems In this too, Brecht is a great teacher Above all, Brecht teaches you to be yourself It is a paradox, therefore, that if Indian playwrights evolve a truly indigenous theatre, it will be a truly Brechtian theatre as well. In other words, it will be a theatre that not only would have imbibed the folk and classical traditions of India, assimilating music and dance forms into drama, but one that would be universal at the same time

Consider, for instance, the lines that follow in the Indian context

What meanness would you not commit, to
Stamp our meanness ?
If, at last, you could change the world, what
Would you think yourself too good for ?
Who are you ?
Sink into the mire,
Embrace the butcher, but
Change the world it needs it !

Enact, March 1968

Producing Lorca

An attempt was made to drown the] camp in Spanish atmosphere our rehearsal hall across the road boomed with Flamenco music during breaks , a recorded production of *Dona Rosita* in the original was played to a rapt audience , the awe-inspiring people of Goya's drawings were projected through a film , some important plays and poems of Lorca were collectively read , and lectures were delivered on the theatres of Lope de Vega and Lorca in the perspective of European theatre trends.

Around this central point of the course, practical hints were given regarding costumes, sets, lighting and make-up with particular reference to the Lorca play

During casting and through rehearsals, improvisation played a dynamic role Exercises evocative of the most abstract fancy were tried, together with improvised stories more directly applicable to the requirements of the play

For instance, people would be asked to demonstrate through movement an image from a Lorca poem such as 'a tree-tethered sea'—a complex picture engagingly created by a girl in terms of, first, a movement denoting sea waves, turbulent but shackled, and then a posture signifying the tree

Three interesting variations were presented of the theme: 'the flight of a deer in an infinite bosom of whiteness', an image from another poem by Lorca One girl attempted to embody in a statuesque pose a deer in flight, with infinity in her eyes Questioned about whiteness, she retorted, 'Infinity is always white' Another ran across the stage, gracefully bouncing like a deer with a sensation of freshness in her face, which she would attribute to the surrounding whiteness she visualized Yet a third came like a famished deer, digging into the snow for food and dying The best improvisations were considered those which needed no verbal explanations The agonized death in the last exercise was an interesting interpretation of flight into infinity But the snow needed to be explained Her story however seemed to require no snow for interpreting whiteness, as death itself would appear to be white

At one point, everyone who felt so inclined was asked to improvise freely to a lusty and anguished Flamenco song played full-volume The record was played long enough for everyone to relax and feel like moving on to the stage

By and by, they all joined A most fascinating scene ensued, in which in a corner a girl danced like a gypsy gazelle, another made minute bridal preparations, bedecking herself for the expected lover who never arrives, a weary traveller trudged along and stopped by to unburden himself of his invisible knapsack, to have a swig of water from an imaginary tap, an energetic woman busied herself with endless morning activities vigorously pursued, such as brushing her teeth, eating an enormous meal with conspicuous relish, while some boys sat in another area gambling quietly till the climax spontaneously flowered in the form of a dagger plunged by one

gambler into the breast of another A Muslim saying his prayers all this while could still be seen in the background

Flamenco music could never more diversely be interpreted The scene was like a rich symphony or a painted panel, in which the space was divided by an adroit medieval artist It was apparent from this twilight scene humming with passion and activity, sadness and humour, that the group as a whole was possessed by the spirit of Spain

Having obtained my provisional cast, not yet announced, I asked the group to enact the following story an exquisitely pretty bird, pursued by three vultures, with hyenas prowling around, is caught in the end by a birdcatcher

The obvious bearing of these stories upon our text was never discussed at the moment The stories themselves were told by me in minimum, though evocative, words , characters were assigned, but no further stage instructions were given The stories were to be enacted in terms of mime and movement without the aid of words

It must have been clear to most of them from the beginning that the neighbours of the play were here transformed into hyenas, the three lovers of the shoemaker's wife into vultures, and the shoemaker himself into the birdcatcher

The allusion became more explicit in later exercises such as an attractive woman watching the sea by Marine Drive in Bombay is approached by three troubadours , a dejected lover comes and sits some distance away , a crowd of men and women surges in inquisitively, a stuffy policeman saunters up, drives away the lovers and crowd, himself preparing to make passes at the young seductress , the woman starts stoning the policeman, who takes to his heels , upon which the dejected lover raises his head, recognizes his wife, and convinced of one another's faithfulness, they unite

Under this thin disguise the entire story of the play, in skeleton form, was being enacted now, the policeman of the

exercise representing authority, which in the play belongs to the mayor

Having got into the spirit of these exercises, and moving like puppets birds and animals with zest and abandon, relaxing their limbs and exercising their imagination to the full, the cast managed to get a spontaneous grasp of the essential flavour of fantasy in *The Shoemaker's Prodigious Wife*—a play originally intended for puppets and related to Lorca's earlier puppet farce, *The Tragicomedy of Don Cristobal*

The tragic atmosphere in our play was as important for the production as the comic one For though described by the author as a 'violent farce', it deals at the same time with the story of a barren woman, pugnacious but poetic, who, in Lorca's own words, 'struggles constantly with real ideas and objects because she lives in a world of her own where each idea and object has a meaning mysterious to her She has lived and has had sweethearts only there, on that farther bank, which she can never reach'

Lorca depicts in the play 'the struggle between reality and fantasy meaning by fantasy all that which cannot be realized – a struggle common to all of us at bottom'

In other words, *The Shoemaker's Prodigious Wife* not only contains the fundamental basis of all the plays of his earlier phase, including *Don Perlimplin* and *Dona Rosita*, but also anticipates *Yerma* and indeed all the tragedies of his maturer years

The cast was crystallized in a week Rough plotting of both the acts of the play was done comparatively speedily in about three days. It took another five days' rehearsal to achieve the first blundering run-through At this point we were left with three more days for polishing the production before the Dress Rehearsal, with a Shoemaker's Wife who was emerging as the severe bride from *The Blood Wedding* rather than a gay character in a puppet farce

The tragic-comic effect was more easily achieved in the

case of some supporting characters For instance, Don Blackbird, the more sanguine among the lovers, was asked to move like a big puppet bird but because he is also a symbol of death, he was to wear the expression and manners of a westernized 'Yam Raj' or a vindictive death seeking Don Juan I think he ended up behaving like a graceful cross between an affectionate cawing puppet-bird and a sinister mincing bull-fighter Both poetry and comicality were perhaps much better captured in the rhythmic speech patterns and highly stylized grouping of the neighbours—that 'belt of thorns and guffaws' around the shoemaker's wife A compensation for the general lack of humour, some situations lending themselves to comic possibilities were bloated, in spite of the risk of obtaining patchy results

Even the unnatural little boy, the only friend and bond of fantasy for the little wife, was coming along with his pert speech and unfailing timing The hardest work till the very end needed to be done on the husband and wife

I had chosen my Shoemaker for the genial, robust and earthy looks he possessed, as also for the dexterity and exactness his fingers displayed, in miming work like that of a carpenter or a bus conductor in some of those improvisation exercises Thus his movement and all stage business as Shoemaker were convincing He even had something comic about him, which only needed accentuation He lacked speech rhythm and voice projection, on which all his labours were turned

The Shoemaker's Wife, who had a resonant voice and a sensitive approach to poetry, had smooth sailing on the plane of fantasy But whenever she came down to earth, she became too inten e even in her pugnacity

I ceased to talk to her of the sombre under-currents of the play, refusing to discuss them to the point perhaps of denying their very existence Were it not for her dedication, my pains alone would hardly have helped her overcome her deepseated fear that she might land on the stage as a music-hall come-

dienne I praised all burlesque and vaudeville shows with overt exaggeration, though not without a grain of truth, but without any appreciable result Finally, as a desperate measure, I asked her to try to bluff and fool through rehearsals, parodying, as it were, her own performance just to help me see how best she could be guided From that day on, her graph of performance moved constantly upwards in the direction of genuine comedy

This assessment has nothing to do with the comparative merits of her performance—clearly the most outstanding from the start , neither is it intended to take away anything from the unstinted ovation showered on her from every direction.

So sober in fact was my entire cast that even after a desperate attempt on my part to graft slapstick on it here and there during the last days of the rehearsals, the production remained innocent of that violent farcicality which a puppet play such as this can amply accommodate without harm

The emphasis in my problems had clearly shifted , whereas I was anxious at the outset to safeguard the tragic note of the play, towards the end I was all too concerned about the element of farce. Normally in amateur productions, the latter would seem to be the easier to achieve So different indeed was our cast in this respect that even the puppet show, with which the disguised Shoemaker beguiles his wife in the last scene in order to test her faithfulness, struck a kind of tragic, passionate note, and not at all a farcical one This will be better appreciated when it is realized that instead of the shoemaker-puppeteer singing his true and moving ballad of the rubicund wife and the poor, patient little husband with the aid of the painted pictures on his scroll as Lorca intends, we had introduced the puppet characters of the story, large as life, in the form of four masked actors and one actress, moving like puppets and sometimes taking the dialogues in the song from the puppeteer's mouth and hamming them like blustering rural players

The idea of course had come from our early improvisations.

It not only helped us bring a climactic into the scene, in spectacular terms, but it solved yet another of my problems as well—that of utilizing maximum talent in a group larger than this play would apparently allow for Some of these puppet actors were slick in movement but rather incomprehensible in their speech As puppets therefore, they were put to the best possible use.

Imagine the effort they had to make at clarity in speech in the light of the fact that I was constrained to ask them to take a breath almost literally after every phrase Even then, the effect was solemn to a startling degree when the puppet-shoemaker's wife conspiring with her puppet-lover about her husband's murder, asks him, 'Will you kill him straightaway ?' and the lover replies with a gay flourish

This same night when he's returning,
with his leather and his horsehair,
where the water ditch starts curving

The solemn effect, partly created by the words themselves, was made almost uncanny by the line that followed like a high unfinished note from a Flamenco song

Just at that point, an anguished scream is heard outside, followed by the entry of the Neighbour in Black, who yells with outstretched hands, 'They have drawn their knives ' The actress delivered this line on one staccato note , and its effect was that of a drawn sword. We were at once transported back to the pristine Lorca with his Golden Age theme of blood and honour and that perennial symbol of passion as well as death the knife, that 'glowing branch of precious stones', which killed Perlimplin 'Knives, knives', says the Mother in *The Blood Wedding* , 'cursed be all knives, and the scoundrel who invented them '

Yet, I think comedy was fully restored towards the end, when in surprised recognition, the Shoemaker's Wife re-unites with her husband with cheery words, 'Oh, this scoundrel, oh, this villain !'

Whatever Anita (the actress) might have been thinking of as she uttered these words, holding her husband by the hair—I am still not sure of this—it was plain for all to see that she was performing in a comedy and nothing but a comedy—one, moreover, which was hard to save from sentimentalism, but for its author's masterly end. The Spanish music, particularly the Flamenco , the rhythmic movements of the neighbours , and choreographic effects in the tableaux achieved at the end of each act, were all part of an attempt to capture some of the lyrical, balletic qualities in the play The lyricism of Lorca's play was certainly not all there We might have captured it in some places and to some extent, as dialogues containing the element of fantasy, or what might better be called the poetic super-reality of Lorca, were concerned But the lyricism in the songs—the shoemaker's ballad, the neighbours' chorus, or the little boy's hymn to the butterfly—had to be sacrificed, of necessity, as we could not get them sung as the Spanish would have them We merely chanted them all, as we had done with the songs in Brecht's *Good Woman of Setzuan* And sometimes, I think, we made rather a hash of them

Enact, April 1968

One has no quarrel with this theme. But if the idea was to show the deep unrest that has beset man in all ages, it could be achieved equally well by a simpler plot. The point is worth elaboration, for it is also related to production

Suppose, after all the turmoil and conflict, the weak and impressionable Nand was forced by events to decide to go Buddhist in the end, would the theme of man's deep unrest have been lost? Simpler minds may object that the path of religion, of austerity and renunciation, is an escapist path, without relevance to our times. Equally simple dreamers may counterbalance this by declaring that that is the only path which has relevance and meaning for man to this day—the path of Nothingness I mean it in neither sense. I see the events of the play related to their historical perspective. Viewed in that setting, Buddhism was a dynamic philosophy of life, which sought among other things to bring about radical changes in a caste-ridden society bedevilled by poverty, disease and death It came as a social expression of the deep unrest that tortures man every now and again

Much the same is happening in our times. Man's quest for a new way to live has again driven him to the extreme point of suffering It is this aspect of contemporary life that might have gained significance if Nand's conversion was stressed against a historical setting which ruled out all misinterpretation of the path of mysticism, either as an escapist or an eternally desirable path

But what about Nand's ego? What about his individual quest, his agony as an individual? It may be argued that the road of individual search that Nand takes in the end signifies the only factor that can be identified with our times For we too have shaped new ways to happiness in the twentieth century, each of which claims millions of adherents, yet the nonconformist individual remains deeply discontented This rebellion of the individual against all manner of Establish-

ment, both conservative and radical—it may be suggested—is the only worthwhile theme of our times.

If this was to be the theme, the dramatic structure of the play again called for another type of tragedy If Nand's conversion to Buddhism was the end of the play, his character as it has been delineated by the author would still suggest the tragedy of the individual—in this case a man so feeble of purpose and so lost that he is forced to accept the only path open to him though his soul remains disconsolate

It seems to me that no matter what theme was dear to the playwright, this end was the only one called for by the dramatic structure of the play If the end was to be what it is, the play needed much change of treatment, specially towards the final scenes As it is, it hangs in mid-air at the very moment at which you expect a climax or anti-climax This fault perhaps partly emanates from a rather amateurish dialogue structure of the closing scene, which comes to us as a kind of school debate, that got turned through unimaginative handling into a domestic brawl

What the play itself lacked, production ought to have striven to compensate for, to the extent it was possible But Om Shivpuri's production only further denuded the play To begin with Ebrahim Alkazi's set itself had done everything to shut out all environment except the domestic The producer too, in his turn exclusively emphasized the domestic element of the play The external world, full of an increasing number of Buddhist monks, that surrounded Nand's house, was never made perceptible. The sky was visible but against the horizon no saffron-robed saints were seen silhouetted Instead, their chantings were heard through mechanical device, producing only occasionally a pleasant but most frequently a contrived effect In this context, Sundari's humming of a snatch from a romantic song built up so much atmosphere, though briefly

This error of exclusive emphasis made the final scene appear all the more ludicrous, when Nand came back home with his

hair shorn, accompanied by a monk—the first and last to appear on stage Consequently, the whole argument between Nand and the monk, that followed, fell flat This vacuum got further intensified by the fury that was to come next—the fury produced by the words of Nand and Sundari

Sudha Sharma performed competently enough but never played Sundari's deep tragedy, while Om Shivpuri, who in his relaxed first moments seemed to carry the depth of the character, quite soon lost both the aspects of Nand—lover and intellectual. Sundari is a woman of great dignity and command endowed with a passionate temperament, wholly given to sensual pleasures, and not altogether devoid of insight into the minds and hearts of men

Nand could have gained strength not only through his own words and actions but even through secondary characters such as Shwetang and Shyamang—the two servants of Nand's household. The text of the play suggests a strong affiliation between Shyam and Nand, and brings out Shwetang as an archetypical character that stands for all men of bureaucratic mould The distress of Shyamang is not dissimilar to the one that Siddharth himself experienced In Siddharth's case, it brought him revelation In Shyamang's instance, however, his agony only brings him further anguish of body and soul. The words and deeds through which Shyamang is portrayed, however, make him seem rather a psychopathic idiot than the philosopher he is supposed to be This lack in a character is matched by the performance by Virendra Sharma which is not based on any aspect of reality And Bajaj romanticized the bureaucrat.

The intellectual companionship, which Sundari could not bring to Nand, Shyamang could have provided , but this is only remotely hinted, not translated in action It might have been of some consequence to dramatize this, for the theme and climax of the play were to benefit from this. It would seem as if, almost habitually, Mohan Rakesh fights shy of building up

the obvious dramatic tension towards which he knows so well how to lead his characters He appears to let his characters down just at the nick of time, maybe for some kind of an innate fear of the obvious, that might also seem conventional If this is true, this fear would seem to be the surest way of getting one's style cramped If it is not true, then how come both his attempts at playwriting, *Ashadh Ka Ek Din* and *Lehron Ke Rajhans*, suffer from a rather empty end—a bad drop curtain—which apparently could have been so easily improved

There is always humour and irony in Rakesh's creations. The richest source of irony in this particular play is provided by the twosome of Shyamang and Shwetang, but this is made quite imperceptible in the production On the other hand, there is always some very rich poetry in Rakesh's plays, some of which is well captured in the production—striking examples being the incidents of the broken mirror and Sundari's *bindi*, which she strives to keep fresh with water till her lord's return—both images pregnant with poetic beauty and eloquence and well exploited by the artistes to that end.

The production as a whole suffered from being more modern than historical Authenticity was lacking in some of the actions of the characters—in the way a *diya*—not a candle—was snuffed out by a snuffer, for instance. A wrong gesture was called for by a wrong stage property. The same was true of the dressing table with its stool of the wrong height Due to this, the actress could not take the particular posture in which traditional Indian women sit before the mirror so becomingly.

Enact, January-February 1973
Originally published in *Mainstream*

Interviewed by Rajinder Paul

Habib Tanvir is more or less a controversial figure in the Indian theatre He is both erratic and temperamental. There have been many stories connected with his way of working—and the final end-product

I have known his work since the Hindustani Theatre days After producing the now nostalgic version of the Sanskrit classic *Mrichchhakatika* in a folk style as *Mitti Ki Gadi*, and a couple of other plays with his own group Naya Theatre like *Mirza Shorat*, *Sohrab Rustam*, *Shatranj Ke Mohre*, he lay dormant for nearly six years. Suddenly he came up with a production of *Mudrarakshasa* in a modern English version by P. Lal (who has used words like 'reconnoitring' and 'scoot off' in his transcreation of the great Sanskrit plays) Habib did it for an occasion—the Third UNCTAD Conference in New Delhi. The production had all the Tanvirian elements—interesting and innovative, but altogether an unintegrated

hybridization He was again quiet for a few years—perhaps grappling not so much with artistic as with economic problems—job hunting (TV producer, drama critic)

Suddenly he received the Sangeet Natak Akademi Award in 1970 as the Best Producer So he revived his over-a-decade old *Agra Bazar* on the life and times of the popular poet Nazir Akbarabadi. It was well-conceived though shoddily executed as most of Habib's productions are Between the original conception and the first performance there has always fallen the spectre of under-rehearsal in his work He brought a touch of the daredevil to his production of *Mere Baad* for the Ghalib Centenary He carried the script in his hand throughout the play while playing Ghalib More than any other producer, Habib has been plagued by the lack of discipline of the amateur theatre Either it's the heroine or the hero who ditches him at the last moment

The present commitment and continuity starts with the Akademi Award Since then Habib has been working with Chhatisgarhi folk artistes (like Lalu Ram and Puna Ram) and has in the last three years done several folk plays with these village actors He also did several street shows of an improvised agit-prop play during the mid-term elections He has been travelling around the country with his folk group and their folk comedies In Delhi, the fashionable set has lapped up these plays with much enthusiasm. My own reaction has been mixed At times these comedies have bordered on the crude. At best they have been enjoyed for some freshness though I have been hard put to comprehend their deep cultural importance That probably has prompted me to this long interview

Habib spoke very passionately and didn't stop even when I had run out of tape I had to run home to get a fresh one, otherwise it would have off-keyed his mood

I noticed a change in his style After being nominated to the Rajya Sabha, it seems he has become more optimistic about

the things that can be done under the prevalent system Now he links up most of his future programmes with the monsoons or the next rabi crop. If agriculture looks up, so would culture Very pragmatic, I should think

Habib started his career (after odd bits in school days) like most others, with the IPTA, though fortunately his ambition to become a film actor did not come through

PAUL In Delhi people know your work from the Hindustani Theatre and what became of the Hindustani Theatre is also recent history Would you like to say something about your association and your work in the Hindustani Theatre ?

TANVIR Right in the very early days of my coming to Delhi, i e 1954, I had written *Agra Bazar* and taken folk actors from around Okhla villages and mixed them with Jamia Millia actors, i e the middle class educated actors from the intelligentsia And this experiment succeeded We performed in the Jamia Millia open-air stage, and to this came Begum Zaidi and some other people from New Delhi They liked it so much that they asked me to put it up in New Delhi I said I didn't have the resources. They were so enthusiastic that they backed it and finally we performed it in New Delhi in Eastern Court There used to be an open-air theatre in Eastern Court in those days

And then we performed it everywhere, took it to Aligarh, and planned the Hindustani Theatre Begum Zaidi undertook to translate twelve plays of my choice some Sanskrit drama, some Ibsen and so forth I was then going to England for my further theatre training at the Royal Academy of Dramatic Arts and in Bristol Old Vic So it was planned that while I was away she'd do two things : translate twelve plays and collect enough money, somehow, to promote a professional theatre As soon as I came back I would take over , there would be enough plays to go through the mill and we shall have started.

She did it according to schedule, on the dot. At the end of two years she had translated very nearly the twelve plays I had wanted and collected enough money But I had not come back I had extended my stay, I was busy looking at European theatre Being a very efficient person, very aware of targets, she began the professional theatre in 1957 (I'd left in 1955) with Monika Misra She wrote to me that the theatre could not wait for me but I should come back as soon as I could. In 1958 I did come back and launched my experiment with *Mrichchhakatika* after Monika Misra's production of *Shakuntala* which was again an experiment

I had been thinking about *Mrichchhakatika* for many years At that time people did not quite see the point of why I did the *Mrichchhakatika* (The Little Clay Cart) in the folk style, though it became popular It went to the Kisan Sabha conference in Aligarh and was immensely liked by the masses At that time it was the most widely travelled play because it went to many parts of India. But at the end of it, of course, I had left the Hindustani Theatre and the experiment to that extent was stopped though I must say later Narendra Sharma worked along the same lines, carried on with his musical, stylized version of *Shakuntala* And when Shama Zaidi produced *The Signet Ring of Rakshasa* it was in the same kind of general direction

I carried on with the Naya Theatre which I founded in 1959 and continued the musical style and the folk technique which I used for Agha Hashar and also for Molière, and even for Sanskrit drama and my own play, *Agra Bazar.*

So Hindustani Theatre was a very significant turning point in the theatre of Delhi Begum Zaidi had the most important role to play in this She was the pivot of it and the driving spirit of it in every sense Hers was the largest contribution and it came to nothing because of her demise. She died prematurely and too suddenly The collapse came, as so often it is the case with theatre, because it was a one-man show In

this case it was a one-woman show, more or less she was doing everything, and I think that's why she died so early

PAUL Before you left for England you were more or less settled in your views about the society here and the kind of work that you wanted to do You did look around for three years at the European theatre and had a very formal and rigid training at the RADA which is the base of our trained directors here because they follow the same pattern When you came back you almost picked up the threads you left behind. What happened in those three years abroad and what was the impact, or what did you imbibe, of the Western theatre that you later used to some benefit in the work that you did ?

TANVIR Strangely enough, in a fundamental sense what my observation of the European theatre did to me was precisely to turn me back to India even more intensely and much more vigilantly I realized that the eight years of formation that I had already spent in the theatre since my schooling in the IPTA days were not wasted and I concentrated on seeing everything that suited me, to the extent that I had to fight authorities in the RADA to allow me to leave earlier than other students I left much sooner than usual and they gave me a good report. I must say that to their credit. I said I had no use for the kind of acting they were teaching me because I was not going to act in that manner back at home I was not going to enunciate English words like they would have me I had to deal with my own language and it called for other kinds of jaw and tongue movements and lip formations than what I was made to learn there when I was made to say 'wa, wa, wa' for W So I said I would be content with my poor English, but for acting, it might even be damaging if I learnt too much when I went back and tried to act in Indian languages. This belief of mine got more and more strengthened as I observed and also as I practised theatre

I went over to the Bristol Old Vic to learn production, stagecraft and the technical aspects of theatre which I thought

were much more meaningful, and I must say were very useful But in my European observations of theatre I concentrated mostly on Bertolt Brecht's dramas in the Berliner Ensemble As you are aware, Brecht already had imbibed so much from the Eastern theatre traditions including the Indian. So it again made me look back at Indian traditions in a new light I went on trying to produce *Mrichchhakatika* in foreign countries so that I could translate some of my ideas, but I couldn't get a chance, luckily I don't regret it because otherwise I would have repeated all those ideas back at home From Western techniques we have the proscenium stage, the lighting, the naturalistic make-up I used them in the beginning as much as they were useful to my style of production More recently I have begun to talk of and hope to be able to practise the kind of make-up already used by the rural actor in India Very simple, very economical, very cheap. And also to do something about lights and stage formation—what kind of stage, what kind of auditorium, how the people will sit and how the actor will act Unless we can go back to our traditions and bring a world consciousness to bear upon a knowledge of our own traditions, we cannot evolve the new kind of vehicle of expression which is necessary for a technological age where new demands are made So something indigenous, something very very indigenous in so far as form, technique and presentation are concerned, but something thematically universal, modern, contemporary, belonging to our age, to the space age, let us say

PAUL I believe the breakthrough so far as you are concerned came with the very innovative production of *Mrichchhakatika* and till this day some of the theatre people who watched this production and were in a way involved with the Hindustani Theatre think it was a masterpiece Now, would you agree with that? What were the innovations you introduced? Which were the influences that led you to them or were they your own?

TANVIR It is ironical that at that time it was not well taken as far as the Press was concerned in general A professor of English who was interested in theatre and was on the executive committee of the Hindustani Theatre accused me of making myself the laughing stock of Delhi University I kept quiet because I meant to project my own sneer through silence at that remark But it was quite the universal feeling at that time amongst the intelligentsia. The tide has come full circle and now anybody who says that Nai Nautanki (as I called it then) is the laughing stock of the intelligentsia will himself become a laughing stock I am very glad that *Mitti Ki Gadi* had a profound effect It was quite a turning point, I dare say, though when they ask me to do it again I am not sure I want to do it again the same way

The influence I used to feel was of the folk theatre This Sanskrit play being a *prahasan*, it easily lent itself to being done in the folk style Even this point was hardly seen by some of the pundits It was not unnatural or going against the grain of the Sanskrit drama

In order to refute the charge authentically, I didn't trust the middle class actors I got folk actors to play some of the important plebeian roles in the play and mixed them with the actors from the intelligentsia, which I have also done in *Agra Bazar*

But the difference between the *Agra Bazar* production of 1959 or any other production I did in Bombay and *Mitti Ki Gadi* was that the stylization was very great I used songs which I got written, wherever there were verses in the Sanskrit text, in folk tunes and folk metres, guided by the belief that some of these tribal and semi-tribal folk tunes are so primitive that by introducing these tunes a certain primitive flavour would be given to the play.

That was one good reason And then I got the actors to move in rhythm I got drums beaten and actors were tied to that rhythm That's why there were very vigorous rehearsals

for nine months. There were classes in music, mime and dance The rehearsals used to go on the whole day and it was very trying for the actors At first they all listened to me tongue-in-cheek and smiled but later on they began to see the point They didn't understand it when I explained it to them in words until I began to execute it in terms of drama, movement, music and dance

Also there were some dances So I got a Bharatanatyam dancer to play the Ganika's role—that of Vasantsena's. Then I used some acrobatics I used just one simple circle I didn't allow it to become a lopsided circle like a modern thing but I allowed it to remain a simple *nachyamudra* And the choreography, the groupings, were arranged around that circle. It was mostly geometrical I just moved either against the circle or with the circle when I choreographed All of which gave it its stylization, also of course accompanied by masks, make-up and highly stylized costumes Altogether, then, it looked both like a play in the folk style and a play which was done in the modern idiom

Still there might have been some kind of a feeling of hybridization I felt it at that time Looking back on it now I find that I would like to do it in a different way In the sense that I don't have to work so hard at it any more. I enjoy my work much more now and allow the actor to do what he pleases I simply sit back and select and just occasionally interfere to say, there you are ! This is it ! and clinch it 'Repeat it, so that you don't forget it Allow it to get crystallized' But formerly I used to work on paper, diligently, draw every line, every little turn of the body, and tell the actor, 'You've got to move on that line and no other line.' I don't do that any more

PAUL I believe staging of classical plays is very important because we can through them discover the continuity, the roots, of Indian theatre as a basis for staging our modern plays Since such plays have not been produced here, at least not

frequently, I'd like to know your opinion about their revival, their staging techniques, and whether you have evolved a kind of pattern that could be applied to classical drama

TANVIR No, not quite a pattern, but you're quite right about the fact that the classical drama, in any country, has to be the base for any kind of modern theatre movement. Michel Sandini in France proved it long ago, and many a producer in many a country has time and again asserted the fact that you cannot possibly be cut off from your classical traditions and hope even to think in modern terms or make any innovations

Now, in our country, the folk theatre and the classical theatre (and I think even this can be generalized for any country) are but two sides of the same coin, if they represent the same integrated culture The Sanskrit drama, or any classical structure in drama, is but one terse crystallization of what has gone before it by way of folk traditions Once it gets crystallized, you call it the classical structure So the Vedic hymns being chanted round the fire is therefore the origin of drama in India as the Bacchanalia were the origin of drama in Greece, producing the theatre of Aeschylus Similarly the theatre of Kalidasa, Bhavabhuti, Shudraka, Bhasa and Harsha was but the end-product of a long line of folk theatre practitioners This is what George Thompson in his book *Aeschylus and Athens* points out very graphically and convincingly, taking the examples of the bushmen of Africa and the Australian aborigines and the Greek theatre tradition

Not only has the folk theatre gone as a predecessor to the classical theatre, but quite frequen ly when the classical theatre has ceased to be, if there is a live tradition, then the folk theatre has carried on those same classical traditions In this country the classical Sanskrit drama has ceased to be written or produced, for all we know for the last thousand years But the one thing that has not ceased to be continued, or to grow, has been the folk theatre tradition If you analyse it, in one

fundamental sense, whatever is in the structure of this classical theatre of Sanskrit exists also in most of the folk theatres of our country It is the same epic approach, for one thing, to story-telling as in Sanskrit drama , it is the same imaginative way in which they visualize locations—imagine them, utter the verse in order to establish location instead of producing locations in terms of scenery—it is the same kind of poetic way of projecting the plot, it is the same musical and verse expression which go for dramatic progression in folk drama as in Sanskrit drama That is why I have been persuaded to use folk theatre techniques for Sanskrit drama

It's a very simple drama, the Sanskrit drama The professor and the pedant have often tended to make it very obtuse and very esoteric and very heavy going in the name of Bharata, his *Natya Shastra*, little knowing what the *Natya Shastra* means After all we don't have a very vivid example of it in terms of traditions being carried on

Dance is different Dance carries on those traditions after the revival of classical dance in India in the beginning of the twentieth century, but, on the other hand, we have no clue in what manner the classical actor used to perform That is why I go about it in an utterly simple way You remember, in *Mudra Rakshasa* (The Signet Ring) I just used nothing—no set, nor a platform—nothing but a cyclorama And the actors moved in and out quite simply. Only their lines of movement, each time they described a different scene, differed one from another. The entry and exit points were different So that you can visualize lanes and entrances etc I know this is the manner in which the folk actors also perform I have come to this conclusion, that if you want to interpret Sanskrit drama you must go back to your folk theatre traditions and draw from them, even take folk actors to introduce these techniques, and you'll get somewhere The two together, the folk and the classical, are going to give to our modern type of Indian producers lots of ideas,

lots of inspiration Everything new, and yet Indian, can, in my belief, flow from this kind of a background.

PAUL To put it in very general terms, the folk drama takes something from classical drama—a kind of bastardization of some of the classical forms, making it more lively, more living for the community around, and it is lapped up because they become part of it Well, let's say that folk theatre is not for the educated, while the classical drama is for the elite, the intelligentsia.

What I think you've been trying to do is to integrate the two strands of the same thing—the sources of Indian theatre—and now you are trying to make it comprehensible both to the village people and to the city-bred people Do you agree?

TANVIR. No, because this is compartmentalization The moment you compartmentalize and say that the classical drama was for the educated and folk theatre is for the uneducated, well, already you are trying to push these arts into ivory towers because you are depriving the nation as a whole of one half of its heritage. We have got both the traditions and both are indigenous I don't believe for a moment that Sanskrit drama, when it was being practised, was confined to the courts After all, you have got the Sanskrit language confined apparently to the Brahmans, and dramas were being written in that language, but not without the use of Prakrit. And by the time *Mrichchhakatika* came to be written, it was more predominantly in Prakrit, using plebeian characters such as the gamblers, the jewellers and all the other rogues of that play The manner in which these people mixed, the *ganikas*, the merchants and the other ordinary people, is a very different story It is a great misunderstanding, as some of the misguided scholars of Sanskrit have been telling us, that this was court theatre only I don't deny the fact that there was a tendency, a kind of development in Sanskrit drama which moved towards, shall we say, a more abstract form, confined to the courts But by and large, Sanskrit drama was a living

theatre, which had a relationship with the people, took from the people's forms When the people practised their own forms they could not but be influenced by what was around them

You quite rightly said bastardization Now, we know that bastards are said to have so much more calibre, they are more intelligent, they are physically and mentally well-equipped in many cases, whether in the case of animals or human beings, and so also in the case of art—the cross-pollination that takes place always produces something more robust

So this theatre of the people has to be brought to the educated because the educated lack the culture which the masses of the villages possess so richly though they're illiterate You have to consider two things. The educated lacking culture because of an educational system which has reared the cultural content in the past and the villagers, who are innocent of educational systems and therefore by and large illiterate, being more than compensated by the rich oral tradition of our culture and who therefore are the more cultured, if it is attempted to close this gap between the village and the town, in every field of activity, as a matter of fact even in science and technology, but above all in the realm of art, then we will begin to think in terms of a true indigenous form which is good enough for modern India whether in the cities or in the villages After all we are trying to bridge this gap in terms of development in industry, agriculture In terms of culture also we have to come to grips with what are the roots and not always remain in the urban vacuum which has been created in the last few decades.

PAUL Habib, I am not a scholar in classical theatre but one cannot deny the fact that Kalidasa was a court poet and dramatist, and that most of the main characters in classical drama were drawn from the aristocratic classes. Not that the elite do not know that there are other sections of society living in the same city as them. So a playwright of those times could not ignore the plebeians. I don't know if such

roles were done actually by the plebeians or by elite actors. One can't really say that drama, as practised by Kalidasa and his kind, was not for the elite You being a social and a political person in the twentieth century wouldn't like to produce those plays just because they're classics but because they're relevant to you and your society. In trying to take plebeian, or rather village or folk actors, for those roles you're trying to integrate them But still, I think, the audience you cater to are not the kind which will make this theatre a part of their life Because education by itself does negate a certain robustness and inculcates a sophistication which is just the antithesis of folk theatre

TANVIR Now, that's another much-maligned word, sophistication, from which I take off You see, this is a misunderstanding, that the educated are sophisticated and the villagers are not. There are two categories of sophistication The rural sophistication is not understood by the urban people and vice versa But I find the villager much more sophisticated than urban people in many many instances. In the arts they are much more sophisticated, there is no doubt, because our metropolitan development is comparatively of a shorter duration In this short period the foreign domination has been mostly there I mean the growth of cities is connected with British rule And British rule is connected with an alien culture, the British way of thinking, the British bureaucracy, all of which we have inherited, so that cities are being run on those lines. The educational system, at the moment, is still maintaining those very forms which the British left behind

This is not a continuous growth This is a growth cut off from the tradition When we talk about poverty, when we talk about development, we know that the poorest live in the villages, but we are seldom aware that the richest also live in the villages in the cultural sense. Culturally the richest, economically the poorest, that is the paradox

I am not saying that whatever we have acquired by way of

urban culture is to be completely forgotten But we have to keep it in mind that by and large the urban theatre is limited It is Western-oriented. You have got to produce an Eastern orientation, a traditional orientation, and even, let us say, originality Originality will not come from a vacuum. Cities at the present represent, more or less, a cultural vacuum

So where do we go from here ? We'll only go the way the West has gone Where is it ? What is Peter Brook doing ? What's he looking for ? What is Joan Littlewood looking for ? When they do a play in Algiers or talk about Africa, when Godard goes to Palestine to make a film and Brook goes to Shiraz to do *Orghast in Persepolis* and talks about India, well, they're all looking for a ray of hope where the theatre is most living And what is that theatre ? That is the Indian folk theatre, not the city theatre Peter Brook calls the conventional Western theatre, though we all know how flourishing it is, the Dead Theatre All those conventions are dead conventions They look back on medieval times, on the commedia dell'arte, and try and resurrect it, and how poorly, because of course the medieval times cannot be resurrected They cannot hope to produce the kind of audience participation that might have been there in the medieval times of the commedia or the Elizabethan times of Shakespeare But we have it right now We have not to look far And this is what we have to make capital of for going forward to an original, modern, contemporary theatre which has a continuous development, a continual growth

PAUL I'm sorry to harp on it but, as you say, our city culture is Western oriented What was the kind of culture which you visualize from books, from study and your own intuition, before the British domination ? Since there was a strong class system in some form or another, one can't deny that there was a kind of sophistication (I'm using the word in the dictionary sense, not that village folk are less intelligent) which education brings in, living in the city or a kind of

cultivation, not to be used in a derogatory sense but a factual, which one recognises and which the folk forms have not When you are trying to present the folk forms to the city-bred, are you presenting them as they are presented to the rural audience? Do you get the same sort of response from city people to these forms? What do you actually gain from presenting Chhattisgarhi plays to people in Delhi or other towns?

TANVIR Well, to the advantage of your words I might say that one aim of presenting the rural theatre as it exists in a setting like that of Delhi is to unsophisticate the so-called sophisticated elite of Delhi, to make them acquire a feeling for the more robust, the more vital, the more lively To be able to tickle them to hearty laughter, to move them to copious tears, all of which they're not used to To make them get used to a highly sophisticated style of acting in which, in comedy, the sky is the ceiling—within the rigid framework of the aesthetics of acting. Madan Lal is one example, and you've seen him, you've seen how broad his comedy playing is, how very uninhibited He makes faces, he jumps, he dances, he becomes a monkey, he swells his cheeks into a grimace, all of which the urban actor is innocent of He is shy of doing all those things And yet the folk actor never crosses the limit, it is never overdone And he does it as highly as can be

So that is what I mean I have no use for the elite in the name of the kind of sophistication they possess because of being educated and therefore going to the theatre because it is the fashion, wearing the clothes that ought to be worn, using the perfumes that ought to be used, and talking in the foyer in the intermission so that they can meet their friends and show that they are abreast of the latest. It is the contagious, living quality of the folk theatre to which I intend to expose them, for the simple reason that they declass themselves to an extent and begin to enjoy themselves

But of course, I do want city people to go to the villages too And you know very well I'm not a revivalist I do not want to do the folk play exactly as it is done I have presented it in the same manner as it is done in order to show what exists by way of rich forms in the villages, but always used it to advantage You'll remember the ritual I did as it is done in the temples But in my workshop play done last year I used that ritual in my own fashion I do not believe in the villager being left alone to himself and that he will produce for you the latest But I also do not believe that the city artist left to himself in his own confinement can produce the most modern theatre relevant to our contemporary needs I believe in the viability of the rich forms of the rural theatre in which they have a tendency to incorporate the most topical, the latest local happening, the thematic and formal flexibility by which we cannot claim this is how it was performed 200 or 2000 years ago I am of the opinion that it is not at all necessary to go romping through the cultural traditions of the country, defacing and demolishing them and bringing in the new The new from where ? It's got to have a continuous growth I believe that it is possible to usher in progress without demolishing this culture This environment should be preserved, the rural environment most conducive to the fullest growth of the folk theatre form, because this community life which is so rich in its cultural expression can be transformed to a progressive community in which this expression remains. Right now we have no expression What expression do the city people have of their own aspirations except going to the theatre or to the cinema or to an art gallery ? Nothing else Have you heard them singing in the streets of Delhi ? No But the villagers do it They do it while they work, they do it when they die, they do it when they marry

That's what I mean by cultural expression of community life And this is a rich phenomenon This is what is the envy of the Western artist.

PAUL As the situation now is, the rural areas are less developed than the cities, or you can say they are under-developed, and there is conviviality, robustness, vivacity, free singing and free dancing—a *joie de vivre*—in rural life. It's something you read in brochures. Most city dwellers do not go to the villages. You are one of the fortunate who've worked with villagers and with city people. With all these new development aids to the villages, isn't there a danger of whatever is existing by way of village theatre being adulterated by city development? Will the folk traditions die in their native environment or, if not, what will be their shape twenty to thirty years from now?

TANVIR Most unpredictable, depends upon so many factors including how we develop, what kind of social relations we have, what kind of changes we bring in, above all in the field of social and economic relationships. Without the best type of economic and social relationships we cannot have the best culture. Right now we cannot foresee very much. You are right about the incursions, the devastations of the mass media, the camp followers of industrialization. Already much damage has been wrought upon the community forms of cultural expression in the countryside. The difficulty is we will want the villages to be influenced by the cities and the cities to be influenced by the villages, but right now this free interflow is not there. Our urban orientation in cultural policy and all other matters is only having one type of effect—it is the city's influence on the village. When I say this, what does it really imply? Look at the situation. By and large our urban theatre remains imitative. Let us admit it. It is a Western-oriented, a pale copy-cat theatre. Apart from this, the radio and television and cinema have nothing to do with the indigenous, genuine cultural traditions of this country. All of these are being disseminated in the villages. Vast rural areas are already affected badly by these influences. The dramatic forms and contents of many folk theatres are

already following film tunes, going in for gaudy, flashy costumes, the types of hairdo that film stars have

Now, this is not what I mean by the influence of cities on villages It is your educated elite of the cities who will be expected to possess a broader consciousness of the world The illiterate villager at the moment is not expected to possess a modern concept of the universe All that he has is culture

PAUL Now, I see the city youth imitating the West becaue it is exposed to the West, because it goes abroad and people from the West come here, and the village people are exposed to the cities. They are a little lower down the ladder because they do not go abroad or people from the West do not go to the villages, there's no interaction When all these people are exposed, don't you think the villagers will try to imitate the worst in the city people because you can't really regiment a people to imbibe the best in culture, they imbibe what suits them ? Don't you think, and I revert to an old question, that these art forms will not remain insulated from some kind of bad influence ?

TANVIR No, I don't want them to remain insulated You're right I think just now the bad influence of the film, above all, has changed many of the Indian theatre forms Expose them to good city influences How do you insure good city influences ? By first exposing the city to the good rural influences

It's very good that India is exposed to so many influences All of us would like to learn from every conceivable country, whether it is France or Russia or Poland, Germany or England or America or China or Japan or Australia There is also Assam from where you can derive inspiration But if you produce an educated class which is totally deprived of awareness of its own culture and completely exposed to everything Western, you limit the choice The educated will only lean towards the West, not knowing what belongs to them by way of their own traditions. So all I'm asking

for is a total exposure to every conceivable culture, which must be backed by a full awareness of your own traditions for whatever they're worth, and your freedom to go against those traditions or to follow them to advantage to a higher stage of development

We are importing technology from all possible countries, Western and Eastern and everywhere Now the danger certainly is that if we go the way of any of the European countries, Eastern or Western, and if we do not evolve our own methods of development, even in technology, we shall come to grief The point is we have not only to evolve indigenous methods, not only use indigenous material, but have also to think of the genius of the people, the economy of the country, the agrarian nature, the dimensions, the enormity of its population, the ratio of the villages to the cities and then evolve an economic path which ensures a development true to the genius of this country When I say that, I mean true to the needs of this country You'll have to adapt your industry and technology to those needs The moment you do that, you're already ensuring a very genuine culture also affecting the performing arts.

The TV satellite represents the big Western technology and consequently disseminates a message which is only a pale copy of messages of the West. Nothing but devastation can be expected But if this TV satellite is fed by what is true of the culture of this country, you will only receive a multiplication of the myriad forms in this country and many innovations So this is the first thing to be ensured—the right kind of change in economic and social relations, the right kind of educational pattern oriented towards jobs related to the villages if they are in the villages, craft-oriented, the arts finding a place in the educational system, museums located in the very areas which they represent so that these rich folk and tribal arts are first of all reinstated, placed on the pedestal which is their due. This is not being done.

The villagers enjoy their arts but they think the city people know better and therefore imitate them I've seen Orissa women wearing their own traditional saris now because they know that the city girls like them So if the city people adopt all the lovely things of the villages, the villagers will begin to have a respect for their own things The moment I got a team to work with me, they realized that one city fellow, who's also from Chhattisgarh, liked the genuine folk tunes and was even teaching the city boys of Raipur how to do make-up in the village fashion I only taught the villagers how not to use the tube-light but to take a ghee tin and make a hole in it and fix a bulb in it, paint the inside of the tin, put a hardboard on top, make a hole in it, and you get a 'flood' That's how you ll get better lighting if you're no longer using rush torches as you used to in the old days , you don't have to go to the tubelights, which are insipid On the other hand, your make-up is fine, the city boys should learn it Your costumes as they are are fine Your community songs which you are no longer presenting on the stage are lovely and you should go back to them

They got so many props which had ceased to be used on the stage They got the ornaments and the saris from their women In one tantric scene, every ritual was performed not because they were sure they knew it but because I wanted it I'm sure if this scene, for instance, is done extensively in Chhattisgarh, it will have a very quick and a very wide effect They'll all change to what I'm trying to do

That's why I think workshops of the folk arts all over the place, by people who have a sensitivity for the folk arts, must be conducted and taken around so that they are exposed to the cities and, more importantly, the cities are exposed to them. We should get in the metropolitan centres a kind of apex of this movement, not from the highest point downwards but from the grassroots upwards. On the regional basis we organize festivals, we organize training for them by artists,

not by government representatives This extensive activity would be to the youth a programme of informal education because a change in the educational system still cannot reach out to the masses of the people The emphasis must be on the villages And then I daresay there will be a change in the all-India-based festivals for the better So much cross-pollination will already have taken place by the end of the present five-year plan that, if everything goes well, we shall certainly have a much better picture

PAUL In politics we find there is a leadership in the villages while the city-dweller has to discover their artistic talents for the villagers Do you think in the arts the leadership will always come from the educated ?

TANVIR Not necessarily If we really undertake an extensive programme and go to the villages we shall be able to draw leadership from out of the local team itself I daresay the rural artists will throw up leadership very easily As a matter of fact, we already have quite a few folk artists who are in their own right leaders in their spheres I'll give the example of Sheikh Ghulam in Madhya Pradesh He's not exactly a city-bred, educated man He does not represent the city elite Very much a man of the people Likewise in Manipur and in the tribal areas there are leaders. So all we need to do is look around

PAUL With the spread of education one experiences a kind of modern sensibility And this sensibility in the latter part of the twentieth century has inculcated a kind of angst, depression or nihilism in the city-bred intellectual. Do you think this more or less genuine sensibility of the educated class has no meaning in today's India, or do you think it is against the very genius of Indian philosophy, that it is only imported from the West ? Some artistic work is done taking this class into consideration, for instance Badal Sircar's *Evam Indrajit* which people could say is imitative of Camus' philosophy and all that, but one could recognize the people in the play and they

are very genuine people Would you say that either their problems are ignorable in terms of larger contexts or they don't have to be catered to by anything indigenous, that we have to go to the villages to discover what are the genuine problems ?

TANVIR No, no, I shall not go to the extreme of rejecting what we have achieved by way of the works of our best playwrights Not at all. What we have achieved we have achieved The best plays written by our playwrights reflect some very important aspects of our lives This cannot be gainsaid I was merely emphasizing the lopsided nature of our development in culture, the wrong nature of our cultural policy if we have one If we don't have one, then the wrong kind of effect comes of a wrong type of development Now, it has no sort of justifiable ratio to the problems of the entire country What it has achieved in itself is good But the aspects of life it does not reflect remain equally important and they represent a vast population of the country I am of the opinion that development has to go on lines which are natural to this country, which flow from out of the needs of this country The needs have been looked after a lot more with metropolitan India in mind rather than the countryside. You cannot deny that India is still by and large an agrarian country

Now, in all theatre activity, the country is the most neglected of the two We have to lay a little more emphasis on the countryside in every sphere of activity in order to correct this imbalance There have been in the last twenty-five years a great deal of imbalance in development To narrow this gulf is not against our best playwrights who reflect the city life The aspects of reality that they reflect are our own—that cannot be denied I'm not asking that something be cut off from a growing plant but that something be remedied before it is too late, because if this goes on we shall have nothing but regimentation in the end, nothing but nihilism The playwrights are not to blame. We have to blame our development. I'm not saying that the problems of the countryside must

necessarily be reflected in the works written by our urban playwrights Those who are reflecting them will do it without being asked Those who reflect the other realities are doing it very well too There are no hard and fast rules But the village playwright, who's really an improviser and who therefore requires a greater creativeness, is neglected So that aspect of development remains completely ignored

PAUL Do you think the creativity of an artist is a manageable commodity ? Since all over the world theatre is subsidized by the government, since it is one of the art forms that needs subsidy, with increased aid to a kind of theatre that you might think the government should be in favour of, don't you think you or that theatre would be going towards some of the unpleasant paths of regimented aid ?

TANVIR No, but who wants government control in theatre ? We ideally would like government subsidy and support and all possible freedom for the artist So far whatever little support there has been, has been from the government in the performing arts We cannot deny that Theatre had really flourished on its own as a people's theatre during the days of the national movement Soon after independence we had an extensive amateur theatre activity But already we were getting some sort of support through the akademis and through various ministries or quality organizations The thing that has been erroneous is that whatever little support there was was more or less completely devoted to institutions started in metropolitan centres This has to change We will require the government to incorporate into all such work as are related to the practical aspects of culture the help, cooperation and support of people active in the field

PAUL What are your immediate plans ?

TANVIR As far as I can manage I would like to use the resources I have in rectifying this imbalance I would like, ideally, that so-called festivals take place on a regional basis all over the country, in their own ethos, not in metropolitan

centres I'd like workshops in the folk performing arts to be conducted extensively all over the country so that they come into their own Secondly, they should be taken to other regions so that every region begins to understand the problems of other regions Also, the cities must understand the forms of cultural expression of the villages This should be geared to the five-year plans, of which I think there is a distinct possibility because now it is in the air, people are becoming aware, even the makers of our cultural policies

PAUL But isn't what you're trying to do an oversimplification of the folk theatre ?

TANVIR When we say, and we are quite justified in saying it, that art represents the period and the clime in which it is inducted, we understand the village theatre form reflects their very life, to the extent it is as contemporary and topical as urban theatre What the city can do is to adapt it to its own advantage, to use it as a means to express whatever the city wants to reflect, it's culture in its totality When city life is divorced from the true traditional way of living, it is reflecting less than a cultural totality The reflection of a traditional totality has to be dim, dilute When the imbalance is removed, the manner of response, and therefore of presentation too, will change It is a process Brecht, who went to the middle ages and China for his inspiration, produced his epic theatre and his theory of alienation, which we can certainly say were simplifications, so far as contemporary theatre is concerned.

Enact, March 1974

The Indian Experiment

What must India do for social development through the theatre ? But first of all what is Indian theatre ? To anyone brought up in the European theatrical tradition, it is a difficult thing to explain Take into consideration the fact that the vast Indian subcontinent, still mostly agrarian, actually represents a multilingual people, still by and large illiterate, and you will at once realize that Indian culture is like a crystal reflecting a myriad shades

But its multilingual quality is not the only difficulty you face in regard to a satisfactory description of the Indian theatre. In India, theatre as a profession simply does not exist in the sense in which for instance it exists in almost every European town In European countries theatre had achieved a certain clear-cut definition , and conventions flowing from this definition are almost uniformly followed everywhere Experiments constantly take place in big

metropolitan centres but usually within the framework of these well-established conventions So rigid sometimes are these conventions that when occasionally a serious attempt is made to achieve a real breakthrough and reach out for new horizons in the theatre, a sensation is caused throughout the world

But this is diametrically opposed to what is happening in the theatre in India You may not quite get this idea, looking at the plays written by contemporary Indian playwrights, though even some of those reflect a somewhat different phenomenon Describing Indian theatre only through the plays recently written is more or less like attempting to project the Indian way of life through a few educated Indians visiting foreign countries

But first of all, let us look at educated metropolitan India Even here European parallel falls short of the image, for every big city in India can hardly boast of flourishing professional theatres True, Calcutta has its many Bengali theatres with more or less a continuity of acting tradition So has Bombay in the Marathi language, though perhaps to a lesser degree Next comes the Gujarati theatre of Bombay and Ahmedabad And perhaps the theatre in one or two of the South Indian languages is not lagging far behind This description, however still does not cover sizeable areas of the country alive with millions of people speaking numerous tongues, including some major ones, where theatre in this particular sense does not exist at all

There are significant young playwrights writing interesting contemporary works in some half a dozen major Indian languages Not all of them, however, can find a professional theatre for their expression. Most of these contemporary plays are performed by experimenting amateur drama groups that exist in big towns almost throughout the country. Delhi represents the hub of this amateur theatre activity and perhaps its most exciting experimental heights The

professional theatres in Delhi have only now started coming up—only a couple of them including my own theatre group and at a very slow pace—but the city abounds in amateur drama groups, working in Hindi, Urdu and, to a lesser degree, the Punjabi language

The urban theatre of India only partially reflects the fundamental features of Indian culture. By and large, it remains imitative It tries to ape the conventions of the western theatre At its worst, it represents a pale copy of the most worn-out western theatre traditions At its best it reflects new western forms recently evolved through a rigorous process of experimentation. Nonetheless there are producers and theatre groups in Bombay, Calcutta, Delhi and elsewhere that are engaged in original work of a very valuable nature They are mostly involved in experiments with Indian folk theatre forms Though in a country of vast cultural resources like India their number is deplorably low, they have already managed to break new ground and lay the foundations of a genuine Indian theatre And this is also beginning to get reflected in the works of some young and upcoming playwrights For instance, Girish Karnad's interesting Kannada play *Hayavadana* (Horseface) based upon an ancient Indian legend which also inspired Thomas Mann to write his novel *Transposed Heads* draws richly from a Mysore folk theatre form known as the Yakshagana Similarly, the Bengali playwright-producer Utpal Dutt of Calcutta recently turned the Bengali folk theatre form Jatra to great political advantage by using its technique in his recent play about Lenin P. L Deshpande of Bombay has done the same with his Marathi play written and produced in a Marathi folk theatre style known as the Tamasha My own Urdu play *Agra Bazar* and my recent production of a folk dramatic improvisation, the Nacha, reflect the same trend

The trend itself is not a new phenomenon It dates back to the Indian People's Theatre Association during the late

forties when producers like Balraj Sahni, Sombhu Mitra and Dina Pathak for the first time turned folk theatre forms to contemporary purposefulness My own preoccupation with folk forms goes back to the same old days Today, however, a concerted effort for greater significance is becoming more and more perceptible

It is beginning to be realized now that the vehicle provided by urban theatre forms borrowed from the West is totally inadequate for effectively projecting the social aspirations, way of life, cultural patterns and fundamental problems of contemporary India The true pattern of Indian culture in all its facets can best be witnessed in the countryside It is in its villages that the dramatic tradition of India in all its pristine glory and vitality remains preserved even to this day It is these rural drama groups that require real encouragement They need to be given an environment conducive to their fullest growth On the other hand, it is not until the city youth is fully exposed to the influence of folk traditions in theatre that a truly Indian theatre, modern and universal in appeal and indigenous in form, can really be evolved

This is being realized more and more not only by some artists but some of the contemporary makers of a cultural policy for India as well. It is now understood that ignorance of your own traditions limits your openness to world influences to that extent and rather compels you to go in directions other than those of one's own choice. And if true freedom is a matter of the fullest range of choice given, then receptiveness to world culture must first of all be adequately backed by a full awareness of one's own culture It is not as if foreign influences are in themselves bad, but they have to be accepted with a greater freedom of choice and greater deliberation For this, knowledge of one's own traditions is a first prerequisite This realization, however, is bedevilled by a terrible paradox Right now, ramifications of this parodox engage our attention The paradox is that our richest cultural tradition is couched in

areas of the utmost poverty—the villages In other words, art and culture are richest precisely in those areas where the people are the poorest And these comprise the overwhelming population of India

The paradox assumes complexity when you consider India's urgent need for economic development and social transformation Committed to the socialist path of development as it is, India is developing at a fast pace as it must Presently it must galvanize its process of industrialization and accelerate economic progress at an even faster pace, in order that the great poverty of a great number of its people is quickly diminished, if not effaced, paving the way for socialist development

The paradox is whether economic and industrial growth will not remove, along with the overwhelming poverty of the people, also the richest cultural traditions of the country. In the past, the community life of the people of the countryside and, with it, its cultural expression, has suffered a setback in parts of the vast subcontinent due to rude incursions from the mass media camp followers of industrialization Everyone is aware that with change in the social fabric, the cultural fabric of the people's life will change too But the question is whether the past must be crushed before the future is ushered in This does not seem necessary The old can perhaps be absorbed and transformed into the new This need for continuity in change in the living traditions of Indian culture is of utmost concern to some of us at the present moment. For it is related also to a cultural identity which became somewhat diluted in the past by alien rule The bad effects of 200 years of British rule are most evident in the urban, elitist oriented culture of India, whose expression often represents the worst forms of aping the West.

It is necessary, therefore, not only to preserve and develop the folk traditions of Indian art and culture but also to expose the city youth to their influence Our educational system in

the past, borrowed of necessity again from the British, hardly ensured an identification of the young with their cultural roots On the contrary, it tended to expand the cultural gulf that already exists between the city and the village, resulting in a partial loss of cultural identity among the city youth on the one hand and a certain alienation and stagnation of a primitive culture among the rural peoples on the other. This cleavage is now intended to be closed as far as possible by a new blueprint for an educational programme, which will gradually cover the entire country during the period of the Fifth Five-Year Plan starting from April 1974

Re-orientation and expansion of education, however, may by itself not deliver the goods It needs to be complemented by a stupendous effort in the direction of fully rehabilitating the dwindling folk arts and crafts of India And this need now is beginning to be contemplated in a practical sense

The rural scene has undergone a great deal of change in the past, to the detriment of culture, but thanks to its size and the vitality of its traditions, India is still India It remains poor and agrarian still to a considerable degree, and its classical and folk traditions of art and culture still exist in some strength in large parts of the country This offers inspiration for the theatre artists in India It points out a way, the kind of way perhaps that Peter Brook may be said to be seeking for his so-called Deadly Theatre Whether or not such a way of hope lies in this area, there is no doubt as to the fact that it needs careful examination The task in itself would appear to be rewarding enough That is why a serious and conscious effort is currently being made by India to rejuvenate traditions of art and culture where they are dwindling and reinforce and develop them where they still remain integrally related to the life of the community It comes from a deep-rooted feeling that if the folk arts of India really represent the genuine fabric of the tapestry of Indian culture, then rehabilitating and strengthening them will perhaps help the

process of revolution of new and viable contemporary forms in theatre, distinctively Indian and yet suitable as vehicles of communication in a technological age

Quite soon India will have launched its TV satellite Among other things, if rightly channelized this is expected to infinitely accelerate the pace of universal education On the other hand, if good care is not taken and in good time, it may also swamp the country with cultural products which have little to do with the true genius of the country. It may kill community life in all its variegated interesting little patterns and flatten out art and culture Before it is allowed to become an impediment to the dynamics of the traditional creative process of the country, action must be undertaken on a massive scale to preserve, reinstate and develop the living folk arts of the people TV must not be allowed to overtake this process On the contrary, conditions must be created to feed the massive appetite of this electronic medium with the most genuine of the creative arts, so that when the medium begins to disseminate its message, instead of regimentation in a cultural vacuum we obtain multiplication of the most dynamic art forms of the country

It is no use turning to the dead book of the classical theatre in India and trying to revive the archaic theatre forms of yesterday without relating them to the living traditions of today There are some people who tend to do this These are revivalists, who have failed to perceive the complex but obvious interrelationship between the classical and the folk performing arts They do not realize that the folk traditions in art are not only the progenitors of the ultimate classical structure but also the carriers of classical traditions when the latter came to a dead end in their own habitat The fact that the people change and transform the classical elements of art to their own purpose and advantage and keep modifying them to suit their changing needs and conditions strengthens the case in their favour rather than otherwise,

insofar as any conscious effort to link cultural development with tradition is concerned.

The classical dances of India provide an excellent example They have received constant nourishment from the folk artists not only in the sense of being exhaustively sculpted and painted by them on rocks and temples in past ages causing a great revival of classical dances in the present century but also in the sense of some being practised by them through the ages right up to the present day in one form or another giving rise to interesting variations which came in modern times to be recognized as independent classical dances in their own right The classical structure in art is nothing but a terse crystallization of the folk structure in art. That is why some dances like Manipuri and Odissi, recently discovered, which have been practised by the people as folk dances for long centuries, have now been recognized as two more classical dances On the other hand, you see many elements of classical dances like Bharatanatyam and Kathakali running into varying patterns in the numerous street dances of Kerala, Mysore and Tamil Nadu

This interrelationship between the classical and the folk is no less evident in the sphere of drama. Those who refuse to see the mutual interflow of influences between the two categories of arts allow themselves to be misled by the fact that the classical Sanskrit drama of India has ceased to exist as a living force for a thousand years They forget that the various musical theatre forms, practised through the ages by rural artists all over India and enjoyed so enormously today by millions of country people everywhere, all must carry a strong dose of the aesthetic values contained in the Sanskrit drama, which in a sense represents the quintessence of Indian culture Their perception hardly ever goes beyond the letter of the sacred texts hallowed by time They see much poetry, complex plot structure and fine characterization in Sanskrit

drama, but fail to see the production design and the demands they make on the actor's craft

It appears they simply go about it more or less like this · the language and thought of classical drama is so rich, sophisticated and ornate, whereas the speech and diction of folk drama improvised so often in unwritten dialects by illiterate actors is so coarse, primitive and prosaic, which is of course not at all true , so how can there be any artistic link between the classical and folk theatres ? The verbal sophistication and the imaginative use of the spoken word in the rich dialects of the people, so frequently to be witnessed in folk drama, are often overlooked But even if, on occasion, this does not, the rich values of the other dramatic elements in folk theatre improvisations almost invariably do Even when they recognize them on rare occasions, they tend to run them down as coarse too The truth is however that these other aspects of acting and stagecraft in folk theatre also share a considerable common area with the Indian classical drama. In fact, they are but two sides of the same coin, two facets of the same culture To compartmentalize them is like depriving the people of one half of their rightful cultural heritage dividing culture in terms of classes superficially and quite arbitrarily The numerous forms of Indian folk theatre all share some common fundamental values Nearly all of them abound in songs, dances, pantomime, improvised repartees, imaginative movement, slapstick comedy, stylized acting, even acrobatics Almost all of them usually cover a large canvas in their stories and denote a change of location by movement and word of mouth rather than by a change of sets and decor. They often have a sort of stage manager, a comic character, who opens and establishes the play and provides the link scenes And all these are the very elements upon which the classical Sanskrit drama is also based in a broad sense

The difference actually lies in the improvised dialogue of the folk theatre and its stock situations and plots, which remain

is what frequently makes a folk theatre performance an experience never to be forgotten

Make-up in the folk theatre in some cases, specially in the South, is extremely elaborate and close to classical patterns. Sometimes stylized masks are also used But in many other theatre forms, only the most essential lines are accentuated in extremely simple techniques, including those of the circus clown As for lighting, the simple torches used in the past are now often substituted by ordinary electric bulbs, even tube lights rather clumsily used. Austere economy used to great dramatic effect also applies to the actors, props, which again perhaps smacks of classical flavour

Lastly, the Indian folk theatre is total theatre in much the same sense as the classical Indian theatre was It is at the same time so often a ritualistic theatre, which at once brings it close to both the classical and the modern theatre in the best sense of these words It is these fundamental links plus, above all, the fact that its numerous beautiful forms all represent a people's living theatre that compel us to view it as an invaluable source material on which to strive to build the edifice of contemporary Indian drama

Enact, March April 1977 Reprinted by courtesy of *International Theatre Information*, where it was originally published in the Summer 1976 issue

The Crisis of Identity and The Question of Authenticity in Theatre

A sense of identity in a people is fundamentally a cultural matter rather than any other Throughout history India as nation has shown great resilience in so far as assimilation of different strains of culture is concerned This may have been so even during the long phase of British occupation in India It is too early however to say whether a new culture qualitatively satisfying and yet identifiable as India's is in fact going to evolve as a result The British intervention in our history with all its boons of world language and some new forms of development has been nevertheless quite disastrous in so far as culture is concerned. This is more particularly so in the case of theatre

The Sanskrit theatre ceased to grow about a thousand years ago On the other hand the folk theatres in India

despite great devastation during the British period did continue to grow and change Fundamentally, the Indian folk theatre subscribes to the same concept as the Indian classical theatre Neither of them follows the three Aristotelean unities of Time, Space and Action. Both of them strive to keep the one unity of *rasa* This fundamental difference in the approach of Indian theatre as compared to the Western theatre approach was forgotten even by the champions of the *Natya Shastra* Consequently, when imitativeness entered into the Indian life—in institutions and in art culture—theatre became the worst victim. It became imitative

Efforts during the rise of nationalism to revive the theatre and later on to make it more true to our own reality, particularly in Calcutta, during the last decades of the nineteenth century, soon came to nothing because our colleges and universities had started practising the western style drama on a large scale

Despite our understanding of the contemporary themes in the theatres of Ibsen, Chekhov and Bernard Shaw, exemplified through the revolutionary theatre techniques of Stanislavsky, we remained by and large blind to our own modes of expression as practised by classical masters and continued by folk players Even our themes therefore themselves tended to become more and more urban and later on more elitist

Immediately after gaining independence, perhaps the worst crisis that we as a nation began to face was the crisis of identity We began to look like a nation that was aping the West not only in our technology, but also in our bureaucratic institutions, our educational system, our aspirations, our way of life, our mode of thinking, and our manner of pursuing theatre This was a natural consequence of a long process of alienation that has been primarily set into motion through our obsolete and borrowed system of education

Recently, there has been a pronounced reaction against

this trend The germs of this new awareness actually go back to the days of the Indian People's Theatre Association which had made the first big organized effort to align the theatre with the peasantry and the new Indian working class whose cultural base once again was rural and agrarian We still suffer from the hangover of a nightmarish cultural past, but side by side fortunately other types of theatre representing a culture more authentic are beginning to assert themselves though slowly and painfully.

We are beginning to realize that we cannot possibly portray our own unique reality except through modes and methods indigenous to our own culture. The fact that our own culture and our sense of it have messed up, resulting in many confused forms of theatre which on the face of it seem to stand for authentic expression and yet remain fake to the core. The Indian bourgeoisie, at first not aware of the difference, is now beginning to catch up with reality and making its own rich contribution in messing up all streams of theatre.

Thus, side by side with the folk theatre we have the pseudo-folk theatre. The ruling class effort is to so formalize theatre that even the most radical ideas actually become tame in their grip. They are adopting modes of theatre patronage which dilutes the fire in the dynamic artiste and pushes him towards sheer technical innovations of a seemingly revolutionary kind They are not concerned with any question of authenticity but only with packaged cultural goods available in the consumer market. Particularity of a regional culture which can amount to authenticity is often given the bad name of chauvinism. On the other hand regimentation and standardization, that accurately depict the mental make-up of a consumer society believing in mass production for the sake of maximum profit, pass for universalism and such-like abstract elusive values. Their patronage is adopting new and clever methods of promoting this type of pseudo culture

This presents the biggest challenge of our times for the genuine artiste His dilemma in a nutshell is that he is to function within the code prescribed by the establishment, take their support, and yet prepare to dig their grave The surest way of doing this is to be true and culturally authentic to one's reality and roots

Presented as a paper at a Seminar on Perspectives of Contemporary Indian Theatre, sponsored by the Sangeet Natak Akademi and the India International Centre, and held at New Delhi, 17-19 December 1984.

Drama Through Synthesizing Rural and Urban Cultures

A FORD FOUNDATION PROJECT

I Productions

I started working on the project from the end of September 1984. The end-products of the project have been .

1 *Nand Raja Mast Hain*—Manoj Mitra's Bengali play *Raj Darshan* in Hindi musical adaptation directed by Kartik Awasthi with a cast comprising the Naya Theatre folk troupe, Ravi Shankar University student actors and actresses, and Raipur city amateur artists

2. *Jadugar Kalakar*—a celebratory theatre spectacle based upon the story of the Pied Piper, directed by Elizabeth Lynch and Habib Tanvir, with a cast of 60 comprising the Naya Theatre folk troupe, Ravi Shankar University (Raipur) student artists, Raipur city amateur artists and a large number

of Rajkumar College (Raipur) children—age group 6-9 and 12-16

3 *Hirma Ki Amar Kahani*—a play about tribal life written and directed by Habib Tanvir, with a cast of 74, including 46 Adivasis, Naya Theatre folk troupe members, R S University student actors and Raipur city amateur artists

4 Currently we are working on the dramatization of three poems of Robert Frost with the help of Naya Theatre folk artists, Ravi Shankar University student actors and Raipur city amateur artists

II Workshops

The first three of the above productions have been results of workshops conducted at different places Apart from the first workshop resulting in *Nand Raja* held at Raipur during October 1984 in which no tribals participated, all other workshops were tribal-oriented During *Jadugar Kalakar*—January 1985—we had a five-day survey of Bastar, particularly the villages around Dantewada and Narainpur, which included some trekking Between May and October 1985 we had seven workshops four days at village Mokhpal near Dantewada followed by three days at village Jheeramtarai, in block Koelibeda near Antagarh in May , two days at Narainpur in June , four days at Kanker in July , five weeks at Raipur in May-June , three months at Bilaspur, July to October, and lastly five weeks at Raipur and Delhi during May-June 1986 At Mokhpal and Jheeramtarai, we interacted with a large number of the tribal inhabitants of these villages in dramatic representations, dances and improvisations , at Narainpur we watched dances by tribals gathered from three surrounding villages including Remawand, whose party in addition to the Mokhpal party and a party from Kanker we selected for the final cast of *Hirma* At Kanker, we interacted with rural dance and drama parties gathered from four nearby villages in mime, dance and drama

improvisations At Raipur we worked on the restructuring of the dramatic format of *Hirma*, on improvisations for actors, and on songs and their melodies, in the light of our experience in Bastar workshops, in which most of these actors had participated At Bilaspur, we actually rehearsed the play for nearly three months In the last phase, we got three tribal parties comprising 46 boys and girls from Mokhpal, Remawand and a village near Kanker intermixed with our urban and folk artists for a little over one month during September-October 1985. At the end of this, we had our première of *Hirma* in the open at the Railway Stadium, Bilaspur, on 13 October 1985 Of this play we have had 38 performances between October 1985 and April 1986, in several places in Madhya Pradesh and Rajasthan, mostly open-air, and in Delhi, Calcutta and Lucknow Our last workshop was conducted at Raipur and Delhi for five weeks during May and June 1986 , we started working on poems by Frost in this workshop from June 1986

III Conclusions

1. I have been able to achieve a harmonious synthesis between rural and urban actors as never before. Formerly, efforts made in this direction, e g in my productions of *Raja Chamba aur char bhai*, *Sutradhar*, etc. resulted in the folk actors dominating over the urban actors This created imbalance in style and projected the feebleness of urban actors the more This time in *Hirma*, the urban artists were those who being from Raipur and around knew and understood the Chhattisgarhi dialect of the folk actors, though they were not used to speaking it They spoke it for the first time in drama

Secondly, they lived, travelled and continuously worked with them, which had mutual beneficial effects on both the groups of actors. The urban actors dropped some of their middle class fads and opened up gradually

Living and working with tribal artists further exercised a

good influence on both the urban and the folk actors The tribal laughed so easily and on the merest excuse They sang all the time travelling, working or just waiting for their food to cook And they laughed almost all the time, turning everything into a play or joke, and always from their guts. They were honest, simple, truthful, extremely well-disciplined, hard-working and entirely dependable The others living and working with them could not escape the contagion of good humour and dignity the tribals possess as their hallmark The result was harmonious team work

In open-air performances of *Hirma*, we had to work for long hours on the sets and lights The urban actors' industry was well matched with the labour the Adivasis were putting in on these occasions This had a singular effect on some of our lazy folk actors as well.

The urban actors learnt both abandon and poise from the folk and tribal artists The harmony that came finally in the stage performance was a result of all this.

2 All acting is connected with some kind of hierarchy. It is related to a social status that characters establish for themselves in a play. It is imbued with political meanings, social and individual conflicts and contradictions. The folk actor knows this instinctively. Even here, the urban actor has to learn a lot from the folk actor This was achieved during improvisation conducted in the workshops

Herein perhaps also lies the area of our failure I had hoped that among other things, I might also be able to achieve the objective of getting a tribal or two to act out a character in the play, no matter how small, but here I failed

It would be easy to attribute this failure to a lack of acting talent among tribals But I have a hunch that the Bastar tribals of some areas cannot act out drama in our sense of the word, because it does not exist in their life Drama in the sense of hierarchy of characters producing through friction

between themselves the unfolding of events and thereby a story does not exist in tribal life Theirs is the life of a compact community, in which all losses and gains are equally shared. Nobody is anyone's fool or villain or hero There is no one to laugh at, sneer, or idolize If they laugh at someone, it is an innocent friendly laughter, and even the one laughed at often joins them in the fun, laughing at himself. Social misdemeanours are of course recognized but whenever allowed they are resolved in the village panchayat and the miscreant is often let off with light punishment, after which he is again deemed innocent and allowed to mingle with the community The only threat to the community comes from the outsider. And to this threat the whole community has learnt to adjust and to survive. They are suspicious of the outsider They become silent in his presence and ignore him Lately, being aware that the outsider exploits them, they too have learnt to exploit him in turn in their own small way Occasionally there may be confrontation between outside forces and the community but even here the whole community gets involved, without producing any dramatic nuances in the conflict The barter or the weekly market is one of the common meeting grounds where they face the outside world But this world is hardly ever allowed at least in some parts of Bastar to become an integral part of the community, which back in the village carries on in its own momentum.

Perhaps they have another kind of drama, which is based on community rituals such as hunting, harvesting, worship, death, marriage, childbirth, etc. And what mimes they could enact for us only confirmed our suspicion that their own life is innocent of social conflicts

However, this pattern of community living has its own kind of special dignity. And the positive gain was that other actors could not help being deeply impressed and influenced by this.

3. A varying number of urban actors taken during the

workshops were also groomed to act in some old productions of Naya Theatre such as *Charan Das Chor*, *Lala Shohrat Rai*, *Mitti Ki Gadi* etc Though not all of them got a chance to appear in a stage performance, some did get this opportunity, not out of any need of the production so much as the need to complete their training In some instances, they brought freshness and vitality to the show and improved it

The professional theatre conditions in which these urban actors found themselves working while travelling over vast areas of the country themselves provided training ground enough for actors who had never the experience before This applies equally to the Bastar tribals, for all of whom drama and living together with others was a totally new experience, as was travel for some tribal parties. Their adaptation was not only remarkable but rewarding

4 A number of urban actors associated with us in the project have now become part of a kind of semi-permanent periphery to our hard core of folk actors Of course quite a few of them have their college or jobs to go back to, but the fact that some of them have expressed a wish to be taken into the theatre as permanent employees in case we can financially afford it, is itself a measure of the success of the project, for never in our past long history did we either plan or actually had urban educated actors in our permanent professional team

5 Of urban theatre sophistications such as in terms of grouping, lighting, rhythm, tempo and contrast in speech and movement, silences and pauses etc , where the actors in general lacked these, instruction was imparted through example, illustration and improvisation The actors in general graduated very well in this, as was evident from tests taken for instance in regard to the focal point in some classical paintings shown The correct answer to this amounted to a correct assessment of the thematic projection in a picture, which is saying a lot

6. Skills were learnt, imparted and exchanged, such as musical skills in *Nand Raja* and *Hirma*, mask-making and

costume-making out of throw-away things such as rags, broken baskets, brooms, old newspapers etc in *Jadugar Kalakar* In the latter, Geraldine Bone taught children as well as adult actors this skill, while Ali Pretty taught them acrobatic skills, with the result that three children acting as cats went up a rope about 45 feet high and disappeared in the college balcony from where the ropes were dropped, while two of our city actors came down the same rope as rats, head first Elizabeth Lynch imparted to them training in celebratory community theatre full of spectacular quality and dramatic fireworks at the end, while David Haley, actually in charge of documentation, taught them how to make a comic electronic machine, and all this through practical involvement. These four English artists had a vast field experience in their respective areas of work with Indians of Kenyan origin and Bangladeshis residing in England Many who learnt under their supervision are carrying on this work in their respective theatre organizations around Raipur.

7 In India, to my mind, culture can be divided broadly into two streams There is a culture of the exploited classes and there is a culture of the exploiting classes The former, for reasons of under-development and survival needs, happens to be the richer of the two It carries with it elements of the Indian traditional culture in living forms thereby ensuring both its continuity and transformation, given favourable circumstances. It is largely shared by the illiterate rural masses On the other hand, our urban culture still struggling to come out of its slavish imitative phase lacks continuity, depth and maturity. In this perspective, cross-plantations between the two can prove wholesome for both, but not through one imitating the other but through free inter-mixing of the two by authentic groups of people And this has been the chief objective of my project

Presented as a report, along with a performance of *Hirma Ki Amar Kahani* at a Seminar and Workshop sponsored by the Ford Foundation at New Delhi, 25-28 August 1986.

Some Comments on Charandas And Theatre In The Rural Areas

At present I am concerned about questions related to the development of the country I somehow feel that we missed the bus right from the beginning Our market economy, or whatever nomenclature we may choose to give it, is imitative There has not been any real, sincere, genuinely creative effort to think about the peculiar conditions of this country. Many of our pet theories have become obsolete. There is a vast part of our country to which they do not apply. We still have, despite growth and development, so much discrepancy, such an awful chasm between the poor and the rich that the difference is staggering and is not to be really compared with developed countries where there are differences in wealth—in terms of distribution of it Somebody asked, 'Was the play addressing us ?' Now the play presents the point of view of a man who represents the Adivasis, the tribals and also

represents the Head, the feudal head at that time—the Raja—and the question of his property. The play talks about exploitation, but it also says that our pattern of development, our progressive approach in the tribal belts, was more disastrous in some respects than feudal patronage was, even though we denounce it We cannot, however, blindly denounce everything in our feudal past because there were some things which the feudal landlords did which helped the tribals The Rajas exploited, they gathered the taxes, they had money, but they were also humane, they were hospitable, they were generous, they did not interfere in the administrative set-up of the tribals. They allowed the Manjhi to continue, the village panchayat to continue, and village crimes, thefts, murders were all sorted out by the village panchayat The Raja had nothing to do with them Grigson, who was the Divisional Commissioner of Jagdalpur, Bastar, in the early twentieth century, shrewdly suspecting that the Indian Penal Code was perhaps not applicable to the cases in the tribal areas, invited Verrier Elwin to help him frame new laws Grigson was, of course, right Elwin went into the matter, as you know, and wrote that famous book, *Maria Murder and Suicide*, in which he described their taboos and what they thought was justice Thus, often, when a man came and said, 'I have killed a man', they pardoned him because they recognized that he felt no guilt about it, that the taboos had sanctioned that murder. The village panchayat even allowed the murder of the elder brother when he seduced the younger brother's wife They sanctioned that kind of murder For many other crimes they handed out simple punishments—humiliation before the village, thrashings with a *chappal*, fines. They had a very humane way of looking at things Now, we have consensus politics This, however, does not enable people to feel that they have been affected by decisions which they have made We have failed in this We have been sending out messages, advice and all the 'do-gooder' activities to them. We have been going

on with Panchayat Welfare Departments, Social Welfare Departments which do not know the problems of these poor people and are also not equipped with the answers to their problems .

Regionalism in culture authenticates that culture, not in a puritan sense but in the good sense of helping that culture and allowing it autonomy, freedom or what you will It then promotes interaction between different cultures and allows it to become richer. We are denying that, we are even unwittingly affecting regimentation and standardization and thereby ironing out all angularities, all diversity, all the composite qualities of our culture. The result is that our culture is becoming imitative Even the imitation of the rural by the urban is as harmful as any imitation. There was a time when we were concerned with many elitist theatres which were all the time imitating the West. At present urban boys, with no sensibility for the folk culture around them, try to do good to that culture either by adopting it or by imitating it. The result is a very strange kind of pseudo, imitative, folksy culture. There must, instead, be a two-way traffic so that we begin to really appreciate what they have and what we have. I really had to learn this myself I had been abroad, had been trained in England and had roamed around Europe, watched those wonderful theatres I went with my thinking cap, my pen and paper and started working, guiding lights, movement I told the village actor that he should move along a diagonal line, turn at a particular point so that the light would touch him in a particular way. All that failed. I realized that the man was getting cramped, he was being, sort of, driven around and he was not being allowed to use his mother tongue He spoke Hindi in a manner which jarred my ears, my aesthetics were hurt by the way he ruined the language But when I talked to him in his own language I found him—I saw him in his own rustic setting—I found that he flowered fully and emerged in all his power and vitality

So I realized that there was something wrong This process took me from 1958 till 1970 Only in 1970 I realized that I must give the tribals back their mother tongue in the theatre During the years 1970—1973, I miserably failed as an experimentalist Suddenly, in 1973 there was a breakthrough when I was at a workshop talking about symposiums and how to make them interesting That is one of the most interesting seminars I attended It was a workshop for a whole month We had about one hundred folk and tribal artists and there were Surajit Sinha and Komal Kothari, some professors and anthropologists from the university, some observers and we had a whale of a time I enjoyed it and everybody still talks about it with nostalgia

The end-product was a play, *Gaon ka naam sasural, mor ka naam damad* This play attracted people day after day after day and it ran to packed houses for several weeks *Charan Das Chor* came soon after that It took me time to realize that rules can be created and changed Take movement, for example—they kept forgetting it and I went on fretting, pulling my hair and getting hot under the collar and saying 'What the hell, you don't know right from left' 'Don't you know the true purposes of your hand ?' 'One hand is used for one purpose and the other certainly for another purpose.' That was my tone in Chhattisgarh when I was very, very angry And even then Thakur Ram, instead of moving right, would some day move left and forget all about where I had asked him to go Those were my days of error Now whenever I go back I realize that the man is such a wonderful actor, a stalwart The reason simply is that there was no village theatre, just a *chabutra* A small platform or a big platform, *chaupal* or any odd place could be used for a stage. I would at first go and lose my temper at the very fact that the people were sitting on the platform where the performance was to take place, that means, on the stage. And I would say, 'Why the hell, why the hell should they come and sit on the

stage ?' The actors were not in the least bothered They sat right in their laps and breathed down their necks, but they went on performing beautifully Indeed, they responded to the people all round them . .

And this Thakur Ram—all the actors were not like him—had been on the rustic stage for as long as 35 years before he came to me That means that he had been acting since his childhood. A man so given to his own type of theatre for as long as that, and considered already a celebrity in his village—it was very difficult to unteach him what he had learnt through experience and to teach him 'right' and 'left' on the stage He was responding to whatever went on around him—thus, if a cow walked through the audience, he would improvise a remark Naturally, 'right' and 'left' didn't matter He was looking at what was happening around him So he would say something about the holy cow

I was only generalizing from my experience, but when I go to Anil Sadgopal's or Sudarshan Kapoor's class in Hoshangabad, I realize that their experiments with educating the rural poor are analogous to my work in the theatre with the tribals Thus, when I visit Sudarshan's classroom I find the children playing and making a big racket and throwing aeroplanes, paper aeroplanes, making balloons, trying to learn volume and God knows what else. I am not a scientist. They are taught all this They have a very, very good time—these children. Sudarshan Kapoor told me that they were never punctual, they didn't come on time, they were always late, but they never wanted to go away from the school. Their parents were very uncomfortable because they did not leave the school till late in the evening They just played around Now, I thought that is one way of teaching and it was very successful So was Anil Sadgopal's experiment in well-digging in Shadol, Benares.

All these are just personal experiences. When you work with the tribals you must work with them and without the presumption that you know better Which takes some time—

it took a long time in my case Sometimes my actors and I were at loggerheads We used curse words about one another I think that's a good relationship. I don't know whether you noticed, I spanked the boy on the bottom when he was making mistakes. It's really a very personal, very intimate kind of relationship and they give it back to me in the same coin I think it comes from working with them, merging with them

Excerpted from a talk at a Seminar on Images of Rural India in the Twentieth century, held under the auspices of the Max Mueller Bhavan, Hyderabad in February 1991, and published in Alok Bhalla and P J Bumke (eds), *Images of Rural India In The Twentieth Century* New Delhi 1992

HABIB TANVIR

A Biographical Resume

Habib Tanvir A Biographical Resume

Born 1 September 1923 at Raipur, Madhya Pradesh, Habib Tanvir graduated from Morris College, Nagpur He went to Bombay in 1945, and stayed on till 1954 · working for a period as supervisor at an ammunitions factory taking on assignments for films and the radio, writing film reviews, and poems in Urdu, often participating in mushairas, as a poet of some standing , joined the Indian People's Theatre Association, and was active as both writer and actor

His IPTA works include *Shantidoot Kamgar* (1948), which he wrote and directed, with Dina Pathak in the cast The half-hour street play was staged before a mill gate in Parel, one of Bombay's industrial suburbs *Shatranj Ke Mohare* (1951), which he adapted from Premchand's *Shatranj Ke Khiladi*, and directed, with Dina Pathak and himself in the cast, was performed first at Hyderabad, and then at Bombay *Shatranj* remained a favourite with Tanvir, who revived it

in 1954 and 1960 for Jamia Millia and Naya Theatre respectively, acting in both the productions

In 1952, he directed *Jaalidar Pardey*, his adaptation of *The Feminine Touch*, a Soviet play, for the J J School of Art, Bombay , reviving the production in 1959 for the Naya Theatre, Delhi

In 1954, he moved to Delhi, where he did his first production of the celebrated *Agra Bazar*, the same year, with teachers and students of Jamia Millia, and Okhla villagers, as part of the celebration of the birth anniversary of Nazir Akbarabadi, a popular eighteenth century Urdu poet of Agra Begum Qudsia Zaidi was excited by *Agra Bazar*, and took the initiative that led to the formation of the Hindustani Theatre

In 1954, Habib Tanvir went to the UK, where he received training at the RADA, the Bristol Old Vic, the British Drama League, and was exposed to a wide range of theatre in one of the most exciting phases of London theatre, visiting other European centres too

In 1958, he returned to Delhi, and joined the Hindustani Theatre, for which he directed *Mitti ka Gaadi*, his Hindi adaptation of Shudraka's *Mrichchhakatikam* With the participation of six Chhattisgarhi folk actors, *Mitti ka Gaadi* was the beginning of Tanvir's lifelong interaction with the Chhattisgarhi artistes and their tradition

In 1959, he left the Hindustani Theatre, along with Monika Mishra (whom he married the same year) to form the Naya Theatre, which was however registered only in 1964, and became a professional company in 1972 In its first year, Naya Theatre produced *Saat Paisey*, Tanvir's dramatization of a Czech short story, directed by Monika , Tanvir's produc-

tions of *Jaalidar Pardey* and *Tambaku Ke Nuksanat* In 1960 Tanvir directed *Phaansi*, which he had adapted from an English one-act play , both Habib and Monika were in the cast, Monika as a walk-on whore The same year Tanvir adapted Molière's *The Bourgeois Gentleman* as *Mirza Shoharat Beg*, which he directed for Jamia Millia

In 1960, Tanvir revived *Mirza Shoharat Beg* for the Naya Theatre, and directed Aga Hasra Kashmiri's *Rustam Sohrab* in Urdu, with himself in the cast

Tanvir had discovered Brecht in the UK In 1962, he directed *The Good Person of Setzuan* in English, for the drama teachers' camp sponsored by the Ministry of Education Sushma Seth acted as Shen Te-Shui Ta , Monika Tanvir was the priest, Tanvir himself the carpetseller This was the beginning of a whole series of productions in English, of classics, both Indian and European. In 1964, he directed *The Signet Ring of Rakshasa*, P Lal's translation of Vishakhadatta's fifth century *Mudrarakshasa*, with interpolations from H H Wilson for the Nandi, for the boys of St Stephen's in Delhi This was the first time Tanvir used the Kuchipudi curtains—'nobody was using them at the time,' Tanvir chuckles when he recounts his production

Nagin, his daughter, was born in 1964

In 1965, he directed Lorca's *The Shoemaker's Prodigious Wife*, in English, at a drama teachers' camp at Mysore, where playwright G Shankara Pillai was one of his assistants, and Anita Seal did the lead The same year he directed Wilde's *The Importance of Being Ernest*, at St Stephen's, Delhi

A revival of *The Signet Ring* in English in 1968, with Aftab Seth, Kabir Seth, Rajeev Sethi in the cast 're-activized' Naya Theatre after a long time. The years in between had

been taken up by two more classics, produced in English—Shakespeare's *The Taming of the Shrew*, in 1964, for the Unity Theatre, Delhi, with Marcus March, Celia Gore Booth, Sushma Seth, Roshan Seth, and Kabir Seth , and Goldoni's *Servant of Two Masters* in 1966, for the New Delhi Polytechnic for Women and St Stephen's

In 1969, Tanvir produced *Mere Baad*, his play on Ghalib, in which he played Ghalib, 'reciting' the lyrics, 'to underscore the thought of Ghalib's poetry'. Students and teachers of Jamia Millia formed an overwhelming majority in his cast The same year he was awarded the Central Sangeet Natak Akademi's prestigious award for direction, and he revived, in 1970, *Agra Bazar* for the festival on the occasion of the presentation of the Akademi awards for 1969, in a Naya Theatre production, with the company now almost entirely made up of the brilliant Chhattisgarhis The Naya Theatre has revived *Agra Bazar* twice since then, once in 1977, with urban actors, mainly drawn from the ranks of National School of Drama products, and featuring Savita Bajaj, Ranjit Kapoor, Devendra Raj Ankur, Raghuveer Yadav, among others , and again in 1989, for the Akademi's Nehru Shatabdi Smarak Samaroh in New Delhi , Tanvir acting in all the three productions

In 1971, Tanvir appeared in a new role, as activist-propagandist for Congress (I) in their election campaign, performing his 40-minute poster play, *Indra Lokasabha*, on a truck, putting up no less than forty shows in a month's hectic schedule The same year, he wrote and directed yet another poster play, this time on the Bangladesh Liberation War, and the Pakistani atrocities that sparked it off and continued throughout—*Kushtia Ka Chaprasi*. As a nominated member of the Rajya Sabha from 1972 to 1978, Tanvir continued in his 'political activist' role.

Meanwhile he had begun exploring the creativity and skills and natural genius of the Chhattisgarhi singers, dancers and actors As he said in 1983, 'My feeling for the *lokanatya-shaili* dates from 1970, but didn't find a *naya rasta* till 1973.' In 1972, he experimented with the Pandavani style in his production of *Arjun ka Sarathi*, in which the *Geeta* episode was sung and enacted by Punaram, the celebrated Pandavani actor *Gaon ka naam sasural*, *more ka naam damaad*, a collage from three Chhattisgarhi stock comedies, written, directed and acted by Tanvir in 1973, grew out of a Nacha workshop held at Raipur, 6-18 March 1973, with forty folk artistes from Raipur, Durg, and Rajnandgaon as participants, and twenty urban young men and women, and thirty odd rural youth as observers Numerous original Nacha comedies were watched and studied before the three—*Chheri Chhera, Budhwa Bivah*, and *Dewar Dewarani*—were selected to be reworked into *Gaon ka naam*

Raja Chamba aur Chaar Bhai, in 1974, was yet another kind of experiment, in which an 'allegorical tragedy in Urdu' was recast by Tanvir, 'using its metre in my narrative verses and its tunes' With eleven folk actors and four folk actresses from Chhattisgarh and more than twenty Delhi artistes including Sushma Seth, Aftab Seth and Irfan Askari participating in a version, for which Tanvir 'drew inspiration from the style of Alha Udal'

Charandas Chor, Tanvir's masterpiece, in its first 'embryonic form', as a short play, *Chor Chor*, was first tried out at a SITE-oriented workshop at Bhilai, before an audience of 18,000, including a large congregation of Satnamis. In January 1975, even as the first version was still being fleshed out, Shyam Benegal spotted it as 'suitable material for a film', and filmed it in Chhattisgarh.

Even as *Charandas Chor* grew to be a hit and an evergreen favourite over the years, Tanvir went on experimenting and exploring forms and conventions and techniques in different settings and modes in different parts of the country, with works like *Thakur Prithipal Singh*, adapted from *Thakur ro roosano*, in the Rajasthani Khyal form, based on a folk tale recorded by Vijay Dan Detha, which Tanvir directed at a Khyal workshop for Rupayan, at Burundi, in 1974, with the celebrated Ugam Raj Khilari as Rani Saheb, and Bhanwar Lal and Pukhraj also in the cast, and Komal Kothari in charge of costumes, his version of *Uttara-Rama-Charitam*, in colloquial Hindi, in 1975, that had, in his own words, 'a bearded Ramachandra, who was a bit of a cad', *Shahi Lakadahara* and *Jani Chor*, which he directed at a workshop devoted to Haryana swang in 1976, his version of the Prahlada Nataka, produced at the Orissa Folk Performing Arts Workshop held at Gopalpur-on-Sea, in April 1976 In 1977 he produced *Sutradhar 1977*, an updated version of his own play *Sutradhar 1961*, a 'satire on elitist culture': 'though sixteen years have elapsed since the play was written, I did not feel the need to alter anything in the text in any significant sense for the present production' The cast featured Ranjit Kapoor, Nadira Babbar, and Aftab Seth

In its 1977 revival, *Mitti ki Gaadi* was described by Tanvir as 'a musical improvisation in folk style adapted from Shudraka's Sanskrit Classic', 'the difference this time is that the cast is composed entirely of folk artistes, and they are all from Chhattisgarh Secondly, the present production for obvious reasons uses Chhattisgarhi dialect and it is an improvisation.'

1978 was a busy year for Naya Theatre, with three important productions—*Bahadur Kalarin*, which Tanvir wrote and directed, with a towering performance by Fidabai,

Sajapur ki Shantibai, a Chhattisgarhi version of Brecht's *The Good Person of Setzuan* , and Tanvir's own version of the Bhasa trilogy, with Punaram Nishad, the great Pandavani master, performing as the Chorus

There were no major productions in the first half of the eighties, which was the decade that took Naya Theatre travelling to other countries beginning in 1982 with its appearance at the Edinburgh Festival, and at the Riverside Studios in August as part of the Festival of India in Britain Tanvir continued his adventure in forms and challenges writing and directing in the very late seventies *Devi ka Bardan*, with Dwarka and Mandla tribals , choosing the Chandaini form for *Son Sagar* in 1980, creating a n w version of the folk material out of three versions by three different Chhattisgarhi groups , producing *Shah Badshah*, Balraj Sahni's version of Gogol's *The Inspector General*, for the Indian Institute of Technology, Delhi, the same year , and adapting *Nand Raja Mast Hain*, in 1984, from Manoj Mitra's *Rajdarshan*, for a production by Kartik Awasthi and Deepak Tiwari, as a University theatre production at the Ravi Shankar University, Raipur, where Tanvir was then serving a three year term as the first visiting professor in the Pandit Sundarl l Sharma Chair

Hirma ki Amar Kahani, first performed on 12 September 1985, grew out of a Ford Foundation project in which Tanvir tried once again to bring tribal, rural, and urban actors and actresses together in a single performance. On 9 April 1988, he directed Shankar Shesh's *Ek Aur Dronacharya*, for the Bhilai branch of the IPTA, in an environmental, open air production On 8 August 1988, he directed *Moteram ka Satyagrah*, Safdar Hashmi's adaptation of a Premchand story, for Jan Natya Manch In June 1989, he directed *Dushman*, Safdar Hashmi's adaptation of Gorky's *Enemies*, for the National School of Drama Repertory Company, with 'tunes

pilfered from Tagore and Nazrul,' as Tanvir puts it His last two productions till date have been Asghar Wajahat's *Jis Lahore Nahi-Dekhya Wo Janmyai Nai*, a musical play in Urdu, for the Sri Ram Centre Repertory Company, in 1990, and *Dekh rahe hain nayan*, written and directed by Tanvir in 1993

The foreign tours to Scotland, England, Wales, Ireland, Holland, Germany, the erstwhile Soviet Union, Yugoslavia and France, and performances all over the country have kept Tanvir and the Naya Theatre busy throughout the eighties, and into the nineties.

Material available at the Sansthan
MS of CHARANDAS CHOR
Published material by and on Habib Tanvir
Brochures, folders and photographs of important productions
Disc record and *Video recording* of CHARANDAS CHOR
Audio recording of interviews